शिशुपालवधम्
प्रथम-सर्ग

# शिशुपालवधम्

## प्रथमः सर्गः

('सारग्राहिणी से अलङ्कृत संस्कृत-हिन्दी टीका')

व्याख्याकार
जनार्दन गंगाधर रटाटे

संपादक
डॉ० दशरथ द्विवेदी
संस्कृत-विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय



...यालय प्रकाशन, वाराणसी

चतुर्थ संस्करण : १९७५ ई०

मूल्य : तीन रुपये पचीस पैसे



प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वारा[illegible]

मुद्रक : न्यू ज्वाला प्रेस, त्रिलोचनघाट, वाराण[illegible]

# महाकवि माघ : व्यक्तित्व तथा कृतित्व

जीवनवृत्त—माघ के जीवनवृत्त के वारे में 'शिशुपालवध' के अन्तिम शवर्णनात्मक श्लोकों से, 'भोजप्रवन्ध' से तथा जनश्रुतियों से अनेक वातें ज्ञात ती हैं। यदि वंशवर्णनात्मक श्लोकों को माघ-रचित ही माना जाय,तो दनुसार माघ का जन्म एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम त्तक' था। इनके पितामह सुप्रभदेव राजा वर्मलात के मन्त्री थे। माघ ने ने चरित्र तथा रचना से केवल अपने वंश को ही नहीं, अपितु समस्त आर्यभूमि ो और उसके साहित्य को प्रकाशित किया है।

'भोजप्रवन्ध' के अनुसार आप गुजरात प्रदेश के निवासी थे। आपमें अद्भुत तिभा थी। कहा जाता है कि आप का सारा परिवार ही सरस्वती द्वारा काव्य क्षेत्र में अनुगृहीत था। आपके आशुकवित्व की ख्याति उस समय सर्वत्र फैली हुई थी। एक वार आपने भोज की राजधानी धारानगरी में एक श्लोक लिख-कर धन की कामना से अपनी पत्नी को राज-दरवार में भेजा। राजा उक्त श्लोक में अद्भुत प्रभात-वर्णन पढ़कर तत्क्षण मुग्ध हुआ और उसने पर्याप्त धन देकर माघ का अत्यन्त आदर किया। वह श्लोक यह है—

'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिविहतानां हा विचित्रो विपाकः॥'

यह पद्य 'शिशुपालवध' के ११वें सर्ग में प्रभात-वर्णन प्रसङ्ग में आया है।

माघ लोकप्रसिद्ध दानी तथा त्यागवृत्तिवाले मनस्वी थे। एक वार सर्वस्व दान करते-करते जव इनके पास कुछ भी अवशिष्ट न रहा तथा याचक आते ही रहे, तव इनके ये उद्‌गार थे—

'अर्था न सन्ति न च मुञ्चति मां दुराशा
त्यागे रतिं वहति दुर्ललितं मनो मे।
याञ्चा च लाघवकरी स्ववधे च पापे
प्राणाः स्वयं व्रजत किं परिदेवितेन॥'

'भोजप्रवन्ध' के अनुसार माघ का अन्तिम जीवन-समय धारानगरी की सीमा में व्यतीत हुआ तथा वहीं स्वर्गगत होने पर इनके साथ इनकी पत्नी सती हो गयी।

'प्रवन्धचिन्तामणि' के अनुसार माघ गुजरात के 'श्रीमाल' नगर के निवासी थे। शिशुपालवघम् की किन्हीं - किन्हीं हस्तलिखित प्रतियों में सर्गान्त में इन्हें 'भिन्नमाल' नगर का निवासी कहा गया है। सम्भवतः 'श्रीमाल' नामक नगर गुजरात तथा राजस्थान की सीमा पर स्थित है।

जनश्रुति भी माघकवि के पूर्वोक्त जीवन-वृत्त का समर्थन करती है।

कवि के नाम के बारे में भी अनेक बातें कही जाती हैं। डॉ० याकोवी का मत है कि भारवि को तिरस्कृत करने के लिए कवि ने अपना नाम 'माघ' रक्खा क्योंकि माघ मास में रवि की भा = कान्ति कुछ मन्द होती है।

डॉ० मनमोहनलाल के अनुसार माघी पूर्णिमा के दिन अथवा मघा नक्षत्र में जन्म होने के कारण इनका नाम 'माघ' रखा गया होगा।

डॉ० पारसनाथ द्विवेदी के अनुसार श्रीकृष्ण-चरित्र को काव्य में आवद्ध करने के कारण ( मा + अघ = पापरहित ) इनका नाम 'माघ' होना चाहिए।

किन्तु ये सभी तर्कपुष्ट प्रमाण के अभाव में प्रतिष्ठित नहीं हो पाते हैं।

तथ्य यह है कि कवि का वास्तविक नाम ही 'माघ' था। यह बात 'शिशुपालवध' के प्रत्येक सर्ग के अन्त की पुष्पिका में प्रयुक्त 'माघ' शब्द से तथा 'घण्टा-माघ' इस विरुद से सिद्ध होती है; यह मान्य तथ्य है कि प्राचीनकाल में सर्गान्त में कवि का नाम जोड़कर 'पुष्पिका' लिखी जाती थी तथा उसमें कवि का वास्तविक नाम ही प्रयुक्त होता था। किञ्च--'शिशुपालवध' के सर्ग १९,

श्लोक १२० के 'चक्रबन्ध' पद्य से 'माघकाव्यमिदम्' और 'शिशुपालवधः' पद भी उक्त बात को पुष्ट करते हैं।

समय—माघ के समय-निरूपण के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। कोई इनको सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानता है, तो कोई आठवीं शताब्दी के मध्य में।

कुछ विद्वान् इनको नवीं शताब्दी का भी बतलाते हैं, किन्तु इसके विरुद्ध पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होने से यह मत सर्वथा उपेक्षणीय है।

नवीं शताब्दी के 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने लक्षण-ग्रन्थ में माघ के काव्य के 'त्रासाकुलः परिपतन्' तथा 'रम्या इति प्रासवतीः पताका' इत्यादि पद्य उद्धृत किये हैं। इससे सिद्ध है कि माघ का समय नवम शताब्दी से पहले है।

किञ्च नवम शताब्दी के राष्ट्रकूट राजा नृपतुंग ने अपने ग्रन्थ 'कविराज-मार्ग' में माघ का उल्लेख किया है। इससे भी माघ का समय नवम शताब्दी से पहले सिद्ध होता है।

अष्टम शताब्दी के आचार्य वामन ने अपने लक्षण-ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति' में माघरचित 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाश' इत्यादि पद्य उद्धृत किया है।

डॉ० याकोबी का (जैसा कि पहले कहा जा चुका है) मत है कि माघ ने 'माघ' नाम भारवि के तिरस्कार की दृष्टि से रक्खा है; अतः उनका समय भारवि के अनन्तर होना चाहिए।

दूसरे विदेशी विद्वान् डॉ० किलहार्न को राजपूताने में 'वसन्तगढ़' में एक शिलालेख मिला है। इसमें कवि के पितामह 'सुप्रभदेव' के आश्रयदाता राजा वर्मलात का उल्लेख है। वर्मलात का समय ६१५ ई० के आस-पास है। अतः तदाश्रित सुप्रभदेव के पौत्र का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध होना चाहिए।

कुछ विद्वान् अन्तःसाक्ष्य अर्थात् कवि द्वारा रचित 'शिशुपालवध' के शब्दों के आधार पर माघ का समय 'न्यास' नामक पद्धति-विशेषवाले व्याकरण-ग्रन्थ के लेखक जिनेन्द्रबुद्धि के बाद निश्चित करते हैं। उनका कहना है कि माघ सातवीं

शताब्दी के उत्तरार्द्ध के जिनेन्द्रबुद्धि के बाद अर्थात् अष्टम शताब्दी के हैं। वे विद्वान् 'शिशुपालवध' के द्वितीय सर्ग के निम्नलिखित पद्य को अपने मत के प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं।

'अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥'
(शिशु० स० २, श्लोक ११२)

किन्तु यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि कवि द्वारा उद्धृत 'न्यास' ग्रन्थ जिनेन्द्र-बुद्धि का ही होना आवश्यक नहीं है। जिनेन्द्रबुद्धि से पहले कुणि, चुकि, नल्लूर आदि अनेक विद्वानों ने न्यास-ग्रन्थ लिखे थे। बाणभट्ट ने भी 'हर्षचरित' में इन प्राचीन न्यास-ग्रन्थों का 'कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि' इत्यादि रूप से उल्लेख किया है। बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध (६२० ई०) माना जाता है। अतः माघ का काल जिनेन्द्रबुद्धि से बाद का नहीं सिद्ध होता।

अतः जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मान्य प्रमाणों के आधार पर माघ का समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। श्री पं० बलदेव उपाध्याय ने अपने 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' में, डॉ० भोलाशंकर व्यास ने 'संस्कृत-कवि-दर्शन' में तथा श्री पं० विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज ने अपने 'संस्कृतसाहित्येतिहासः' में माघ के इसी समय को माना है।

**पाण्डित्य**—आप केवल प्रतिभासम्पन्न आशुकवि मात्र नहीं थे, अपितु विभिन्न शास्त्रों के उच्चकोटि-ज्ञान के आगार भी थे। आप वेद, ज्योतिष, व्याकरण, राजनीति तथा षड्दर्शनों के आधिकारिक विद्वान् थे। आपकी विद्वत्ता या पाण्डित्य का दिग्दर्शन 'शिशुपालवध' के विभिन्न पद्यों में उपलब्ध होता है। साधारण कोटि का पण्डित अथवा कवि ऐसी उत्कृष्ट बातें नहीं कह सकता। जैसी बातें हमारे मान्य महान् पण्डित एवं कवि माघ की लेखनी से प्रसूत हुई हैं।

यहाँ पूर्वोक्त कथन के लिए 'शिशुपालवध' से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

वेदज्ञान—आप साङ्गवेदों के ज्ञाता थे; यह बात आपकी रचना से ज्ञात होती है। आपने वेदार्थ-ज्ञान से निरुक्तकार की—

'योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा'

उक्ति अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखायी थी। 'शिशुपालवध' के द्वितीय तथा एकादश सर्ग में आपके वेदज्ञान से सम्बद्ध श्लोक मिलते हैं। उद्धवजी द्वारा द्वितीय सर्ग में शिशुपाल के पराक्रम का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव'

अर्थात् एकपद में जिस प्रकार उदात्त स्वर अन्य स्वरों को निघात (अनुदात्त) बनाता है, उसी प्रकार जो शिशुपाल शत्रुओं को नष्ट करता है, आपको उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

शिशुपाल को दी गयी उदात्त स्वर की उपमा विना वेदज्ञान तथा वैदिक स्वरज्ञान के सद्यः नहीं हो सकती, अतः यह सिद्ध है कि माघकवि को पर्याप्त वेदज्ञान था।

इसी प्रकार ग्यारहवें सर्ग में प्रभात-वर्णन के प्रसंग में अग्निहोत्रियों के बारे में माघ लिखते हैं—

प्रतिशरणमशीर्णज्योतिरग्न्याहितानां
विधिविहितविरिब्धैः सामधेनीरधीत्य।
कृतगुरुदुरितौघध्वंसमध्वर्युवर्यै-
र्हुतभयमुपलीढे साधु सान्नाय्यमग्निः॥
( स० ११, श्लोक ४१ )

'विरिब्ध' शब्द का अर्थ है—एक श्रुति आदि चार स्वर।

यहाँ कवि कहता है कि अध्वर्यु-कार्य करनेवाले ब्राह्मण समिद्-हवन के मन्त्रों का सस्वर पाठ करके विधिपूर्वक हवन कर रहे हैं। इस श्लोक से भी यह स्पष्ट होता है कि महाकवि माघ को वेद एवं वैदिक-स्वर-प्रक्रिया का गम्भीर ज्ञान था। वे अपने काव्य के चतुर्दश सर्ग के एक पद्य में 'स्वर से अर्थ-परिवर्तन' विषय को बतलाते हैं—

संशयाय दधतोः सरूपतां
दूरभिन्नफलयोः क्रियां प्रति ।
शब्दशासनविदः समासयो-
र्विग्रहं व्यवससुः स्वरेण ते ॥
( स० १४, श्लोक २४ )

इस सर्ग के श्लोक २१ में भी स्वर की चर्चा है ।

ये पूर्वोक्त पद्य माघकवि के वेदज्ञान की गम्भीरता के पर्याप्त प्रमाण हैं ।

## विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का ज्ञान

(क) सांख्य-सिद्धान्त—'शिशुपालवध' के प्रथम सर्ग में महाकवि ने महर्षि नारद द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति के प्रसंग में उक्त सिद्धान्त की बातें बतलायी हैं । ( स० १, श्लोक ३३ )

श्रीकृष्ण को प्रकृति के विकारों ( महदादि ) से परे स्थित पुरुष कहा गया है । इसी सर्ग के श्लोक ५९ में भी उक्त सिद्धान्त मिलता है ।

इसी प्रकार चतुर्दश सर्ग के श्लोक १९ में इस दर्शन के सिद्धांत प्राप्त होते हैं ।

'तस्य साङ्ख्यपुरुषेण तुल्यतां
बिभ्रतः स्वयमकुर्वतः क्रियाः'
( स० १४, श्लोक १९ )

यह संकेतित किया गया है कि पुरुष ( आत्मा ) स्वयं कोई कार्य नहीं करता, किन्तु कर्त्री बुद्धि के साथ अभेद मानने से तथा उसकी वृत्तियों को अपनी वृत्तियाँ मानने से ही उसे ( आत्मा को ) सुख-दुःखादि का अनुभव होता है ।

( ख )—योग-सिद्धान्त—प्रकृत काव्य के चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत के वर्णन-प्रसंग में—

'मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः ।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाऽधिगम्य
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ॥'
( स० ४, श्लोक ५५ )

उक्त पद्य में योग के अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर कवि उक्त सिद्धान्त की अपनी गम्भीर विद्वत्ता का नमूना उपस्थित करता है। इसमें प्रयुक्त चित्तपरिकर्म, सवीजयोग, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति आदि शब्द, योग के पारिभाषिक शब्द हैं।

इसी प्रकार चतुर्दश सर्ग के श्लोक ६०, ६२ और ६४ में भी योग के सिद्धान्त से सम्बद्ध वातें मिलती हैं।

इससे सिद्ध होता है कि महाकवि माघ का योग-सिद्धान्त का ज्ञान ठोस प्रकार का था।

(ग) पूर्व-मीमांसा—प्रकृत काव्य के चतुर्दश सर्ग के २०वें श्लोक में याज्या, अनुवाक्या और ऋक् द्वारा तथा होता और प्रशास्ता द्वारा याग की वात कही गयी है तथा पूर्व-मीमासा के पारिभाषिक शब्द द्रव्य, देवता आदि की चर्चा हुई है। इसी प्रकार उक्त सर्ग के २२वें श्लोक में कुशमय करधनी पहनी हुई यजमान-पत्नी द्वारा सम्पाद्य आज्यावेक्षण, आहवनीय आदि वातें कही गयी हैं। यह विवेचन कवि के पूर्व-मीमांसा-विषयक प्रगाढ़ ज्ञान की ओर संकेत करता है।

( घ ) उत्तर-मीमांसा ( वेदान्त )—'शिशुपालवध' के प्रथम सर्ग के ३२वें श्लोक 'उदीर्णरागप्रतिरोधकम्' इत्यादि में मुमुक्षु-जनों के लिए ज्ञातव्य ब्रह्म के रूप में श्रीकृष्ण को वतलाया गया है। इस श्लोक में प्रयुक्त पद 'मोक्ष-पथम्, उदीर्णरागप्रतिरोधकम्' इत्यादि से छान्दोग्योपनिषद् में षष्ठाध्याय में वतलाये गये 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' प्रकरण का दृश्य स्मृतिपथ में लाते हैं।

इसी प्रकार चतुर्दश सर्ग के श्लोक ६५ में श्रीकृष्ण को सर्वलोक-व्यापि और सृष्टि का मूल कारण वतलाकर 'परब्रह्म' का संकेत तथा 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि तटस्थलक्षण निर्देश प्राप्त होता है।

माघकवि ने आस्तिक दर्शनों के साथ-साथ भारतीय नास्तिक दर्शनों, जैन-वौद्ध-सम्प्रदाय का भी उत्कृष्ट मनन किया था। यह वात द्वितीय सर्ग के २८वें श्लोक से स्पष्ट होती है।

वे अष्टादश महापुराण, उपपुराण आदि पुराणेतिहास ग्रन्थों के भी मर्मज्ञ थे, ऐसा उनके महाकाव्य के अवलोकन से स्पष्ट होता है। उन्होंने श्रीमद्भागवत

को अपने काव्य का आधार बनाया। उनके इस ज्ञान का संकेत प्रथम सर्ग में महर्षि नारद के कथन से उपलब्ध होता है।

**संगीत-शास्त्र**—आपका तौर्यत्रिक ( नृत्य, गीत, वाद्य, नाट्य ) पर पूर्ण अधिकार था। यही कारण है कि आपके काव्य में इन विषयों के अनेक पारिभाषिक शब्द जैसे, मुखसन्धि, शैलूष, श्रुतिमण्डल, मूर्छना आदि मिलते हैं। आपके संगीत-शास्त्र के गम्भीर ज्ञान के दिग्दर्शन के लिए यह श्लोक पर्याप्त होगा—

'रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः
पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्छना-
मवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः॥

( स० १, श्लोक १० )

यहाँ आकाश से पृथ्वी पर उतरते हुए महर्षि नारद का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि हवा के संघर्ष से 'महती' नामक वीणा में सप्त स्वरों की श्रुति स्पष्ट रूपवाली है तथा तीनों ग्राम—षड्ज, मध्यम और गान्धार का आरोह-अवरोह ( मूर्च्छना ) भी स्पष्ट रूप से सुनायी दे रहे हैं—ऐसी वीणा को महर्षि नारद बार-बार देख रहे थे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि का संगीतशास्त्र तथा नाट्यादि विषय का ज्ञान उत्कृष्ट कोटि का था।

**राजनीति-शास्त्र**—आप भारतीय राजनीति के महापण्डित हैं। द्वितीय सर्ग में बलरामजी की उक्ति में कौटिल्य-अर्थशास्त्र ( राजनीति-शास्त्र ) के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रस्फुटित हुए हैं। महाकवि भारवि भी राजनीति के मर्मज्ञ माने जाते हैं, किन्तु माघ के समक्ष इस क्षेत्र में वे भी मन्दप्रभ-से प्रतीत होते हैं। माघ ने प्रमुखरूप से द्वितीय सर्ग, षोडश सर्ग एवं सप्तदश सर्ग में राजनीति का तथा अष्टादश एवं एकोनविंश सर्ग में तत्प्रयुक्त युद्ध का वर्णन किया है। ६ गुण, ३ शक्तियाँ, ३ सिद्धियाँ, ५ अंग, ७ अंग, ३ उदय, १२ मण्डल आदि शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग कवि के राजनीति-गाम्भीर्य की ओर स्पष्ट संकेत करता है। द्वितीय सर्ग में प्रारम्भ से अन्त तक श्रीकृष्ण की उक्ति ( ८-१२ श्लोक ),

वलराम की उक्ति (२२-६६) श्लोक और उद्धव की उक्ति (७०-११७ श्लोक) में राजनीति-शास्त्र के विभिन्न तत्त्वों का रसमय पद्धति से उत्कृष्ट प्रतिपादन हुआ है। जैसे—

'उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्यन्तावामयः स च॥'

(सर्ग २, श्लोक १०)

'सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाऽङ्गस्कन्धपञ्चकम्।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्॥

(सर्ग २, श्लोक २८)

'सखा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्यतः।
स्याताममित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि॥'

(सर्ग २, श्लोक ३६)

प्रज्ञोत्साहावतः स्वामी यतेताधातुमात्मनि।
तौ हि मूलमुदेष्यन्त्या जिगीषोरात्मसम्पदः॥'

(सर्ग २, श्लोक ७६)

'बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो घनसंवृतिकञ्चुकः।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः॥'

(सर्ग २, श्लोक ८२)

'तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः॥'

(सर्ग २, श्लोक ८८)

तात्कालिक युद्धकला के वारे में भी कवि का ज्ञान ठोस था; यह वात उनके द्वारा वर्णित सेनाविभाग, दुर्गरचना, रणयात्राक्रम, आयुधों का सामाजिक प्रयोग आदि से विदित होती है।

वे वर्णन करते हैं :—

'यातैश्चातुर्विध्यमस्त्रादिभेदा-
दभ्यासङ्गैः सौष्ठवश्लाघवाच्च।

शिक्षाशक्तिं प्राहरन् दर्शयन्तो
मुक्तामुक्तैरायुधैरायुधीयाः ॥'

( सर्ग १८, श्लोक ११ )

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि माघकवि का राजनीति-शास्त्र के विभिन्न अङ्गों का ज्ञान गम्भीर तथा उच्च-कोटि का था।

**आयुर्वेद**—आपका वैद्यकशास्त्र-विषयक ज्ञान भी प्रगाढ़ था। यह बात द्वितीय सर्ग के श्लोक ५४ तथा श्लोक ९६ से स्पष्ट विदित होती है।

**ज्योतिष**—प्रथम सर्ग के श्लोक ७५, तृतीय सर्ग के श्लोक २१ तथा ७२ एवं त्रयोदश सर्ग के श्लोक २१ से आपके ज्योतिष-विषयक अधिकृत ज्ञान का पता चलता है।

**व्याकरण-शास्त्र**—आप शब्दशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् थे। आपके द्वारा रचित शिशुपालवध का उन्नीसवाँ सर्ग इनका पुष्ट प्रमाण है; क्योंकि बिना शब्द-शास्त्र के अधिकार के ऐसी एकाक्षर, द्वयक्षर आदि पर्याप्त रचना सम्भव नहीं है। आप द्वितीय सर्ग में उद्धवजी के मुख से अपनी व्याकरण-विज्ञता तथा राजनीति-विज्ञता के बारे में बतलाते हैं :—

'अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥'

( सर्ग २, श्लोक ११२ )

आपके महाकाव्य में व्याकरण-सम्बद्ध पद्धति-विशेष के ग्रन्थों तथा पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख मिलता है। जैसे ऊपर लिखे पद्य में वृत्तिग्रन्थ, न्यासग्रन्थ तथा महाभाष्य के पस्पशाह्निक का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार चौदहवें सर्ग के ६६वें श्लोक में कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, धातु, कारक आदि का उल्लेख हुआ है तथा श्रीकृष्ण के साथ सृज्, संहृ, शासु और स्तु धातु का कर्तृवाच्य एवं कर्मवाच्य होना बतलाया गया है।

आपने चतुर्दश सर्ग में एक स्थान पर 'दा' धातु का देने के अर्थ में प्रयोग न कर तथा त्यागने के अर्थ में प्रयोग कर 'धातूनामनेकार्थत्वम्' सिद्धान्त की ओर संकेत किया है। जैसे—

'दर्शनानुपदमेव कामतः स्वं वनीपकजनेऽधिगच्छति ।
प्रार्थनार्थरहितं तदाभवद् दीयतामिति वचोऽतिसज्जने ॥'

(स० १४, श्लोक ४८)

इसी प्रकार सर्ग १८, श्लोक १०३ में 'पा' धातु का 'पीना' तथा 'रक्षण करना' अर्थों में प्रयोग कर कवि ने उक्त सिद्धान्त को संकेतित किया है।

इसी प्रकार—

'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।
प्रहाराहार-संहार-विहार-परिहारवत् ॥'

दशम सर्ग के श्लोक १५, ५० तथा द्वादश सर्ग के श्लोक १० आदि शतशः स्थलों पर दिखलाया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि महाकवि का व्याकरण-शास्त्र पर सर्व प्रकार से पूर्ण अधिकार था तथा वे शब्द-साम्राज्य के एकाधिपति थे।

पशु-विद्या—महाकवि माघ का पशुविद्या-सम्बन्धी ज्ञान भी उत्कृष्ट कोटि का था, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। 'शिशुपालवधम्' के सर्ग ५, १२, १७ आदि में इस विद्या से सम्बद्ध विषय अधिक मात्रा में उल्लिखित हुए हैं। घोड़े, हाथी आदि के बारे में सूक्ष्म लक्षण-ज्ञान का परिचय इन प्रसंगों में उपलब्ध होता है। पञ्चम सर्ग में शालिहोत्र आचार्य के अनुसार निर्दिष्ट प्रकार के उत्तम, मध्यम, तथा निम्नकोटि के चाबुक के प्रयोग हैं; इन चाबुकों के प्रयोग के अनुसार घोड़े की गति में त्रैविध्य आता है; अर्थात् घोड़े तेज, मध्यम तथा मन्द गति से चलने लगते हैं, पद्य इस प्रकार है—

'तेजोनिरोधसमतावहितेन यन्त्रा
सम्यक् कशात्रयविचारवता नियुक्तः ।
आरट्टजश्चटुलनिष्ठुरपातमुच्चै-
श्चित्रं चकार पदमर्धपुलायितेन ॥'

(स० ५, श्लोक १०)

इस सर्ग में कवि ने घुड़दौड़, घुड़सवारी, घोड़ों के लक्षण आदि का भी वर्णन किया है जो बड़ा ही रोचक है। चतुर्थ सर्ग के २९वें श्लोक में तथा सत्रहवें सर्ग में हाथियों के विशिष्ट लक्षण, गन्धगज, परिणतगज, गम्भीरवेदीगज

आदि का वर्णन, हाथियों के मद निकलने के सात स्थान, हाथियों को वश में करने की विधि, अंकुशप्रयोग आदि का वर्णन प्रासंगिक तथा रोचक है।

पञ्चम सर्ग में ऊँट, खच्चर आदि का वर्णन भी स्वभावोक्ति अलंकार से पूर्ण पद्धति में किया गया है।

बारहवें सर्ग में ऊँट के व्यवहार का वर्णन, दुही जा रही गायों का वर्णन आदि कवि के इस विद्या से सम्बद्ध गम्भीर ज्ञान के परिचायक हैं।

**माघकवि का अभिमत काव्यस्वरूप**—महाकवि माघ के समय काव्य के स्वरूप के बारे में 'शब्दार्थौ काव्यम्, शरीरमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' इत्यादि मत प्रचलित थे। शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग के कुछ पद्यों को देखने तथा कवि की प्रस्तुत रचना-पद्धति का विचार करने से स्पष्ट होता है कि माघ-कवि को—

'अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥'

मत मान्य था। काव्य के शरीर के बारे में उनका मत है—

'नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥'
(स० २, श्लोक ८६)

वे आगे कहते हैं—

'स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा।
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभृतः॥'
(स० २, श्लोक ८९)

उनका अभिमत है—

'नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः'
(स० २, श्लोक ८३)

कवि ने स्वयं सर्ग १९ में चित्रकाव्य का प्रयोग किया है, इससे ज्ञात होता है उन्हें काव्य के—ध्वनि, गुणीभूत व्यङ्ग्य तथा चित्र—ये तीन भेद मान्य थे।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि महाकवि माघ का पाण्डित्य प्रगाढ़, प्रतिभा बहुमुखी तथा कवित्व सार्वभौम था।

**शैली तथा समीक्षा**—आपकी शैली अलंकारप्रधान होने से 'अलंकृत-शैली' नाम से सम्बोधित की जाती है। आप अर्थ के अनुरूप शब्दों का चयन करते हैं। कालिदास की उपमा का वैशिष्ट्य, भारवि का अर्थ-गौरव तथा दण्डिन् का पदलालित्य—ये तीनों विशेषताएँ आपकी रचना-शैली में उपलब्ध होती हैं। यही कारण है कि आपकी शैली से मुग्ध होकर विद्वानों के मुख से हार्दिक उद्‌गार निकलते हैं—

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥'

आप भागवतकवि, शास्त्रकवि तथा आशुकवि थे। आपकी लेखनी से अमर साहित्य प्रसूत हुआ है। आप क्रान्तदर्शी भी थे। यही कारण है कि आपको महाकवियों की कोटि में रक्खा जाता है। इसीलिए कहा जाता है—

'मुरारिपदचिन्ता चेत् तर्हि माघे रतिं कुरु'
'काव्येषु माघः कविकालिदासः' 'मेघे माघे गतं वयः'
'तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः'

इत्यादि।

आपकी शैली विषयानुरूप है। आप व्यासपद्धति को अपनाते हैं; अर्थात् विषय का सविस्तार किन्तु सरस एवं रोचक वर्णन करते हैं।

श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय अपनी पुस्तक 'संस्कृत-साहित्य की रूपरेखा' में लिखते हैं—'माघ की पदशय्या इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता।'

श्री पं० बलदेव उपाध्यायजी कहते हैं—'माघ के प्रवीण पद्य उस गुलदस्ते के समान हैं जिसे माली ने अनेक रंगीन फूलों के मंजुल मिश्रण से तैयार किया है और जो खूब कटे-छँटे, नपे-तुले, विदग्धजनों के मनोविनोद के लिए प्रस्तुत एक नयनाभिराम कलात्मक पदार्थ होता है।

महाकवि ने व्याकरण के आधार पर शुद्ध अनेक नये-नये रूपों का प्रयोग किया है। वे शब्दकोश के महानिधि कहे जा सकते हैं, यही कारण है कि उनकी कृति के बारे में कहा जाता है—

'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते'

आपकी रचना में माधुर्य तथा ओजगुण अधिक उपलब्ध होते हैं, जो रसानुरूप ही हैं; क्योंकि आपके महाकाव्य में 'वीररस' अंगी ( प्रधान ) रस तथा शृंगार उसका मुख्य परिपोषक रस है।

अनेक तथा लम्बे-लम्बे समासोंवाली उनकी रचना 'समास-बहुला गौडी' उक्ति के अनुसार 'गौडीवृत्ति' वाली है।

आपका काव्य अलंकारयुक्त पदविन्यास, उदारवर्जन, सरलता ली हुई समासबहुलता, सरसता एवं विदग्धता आदि विशेषताओं से पाठकों को अनायास आकृष्ट कर लेता है। काव्य की ये सभी विशेषताएँ आपकी शैली के कारण ही हैं—यह नितान्त सत्य है। अर्थान्तरन्यास, रूपक, उपमा तथा उत्प्रेक्षा आपके प्रिय अलंकार हैं जिनके कारण आपकी रचना में सजीवता-सी समा गयी है; ये अलंकार वास्तविक अर्थ में ( अलंकरोति प्रकृतं रसादि ) अलंकार रहे हैं।

आप अपनी शैली, पाण्डित्य, सहृदयता, सरसता, उत्कृष्ट रचना, उदारता-पूर्ण वर्णन-पद्धति आदि के कारण सच्चे अर्थ में भागवतकवि और महा-कवि हैं।

## माघ का प्रकृति-चित्रण

महाकवि माघ प्रकृति के रहस्यदर्शी कवि तथा सूक्ष्म-द्रष्टा रत्न-पारखी हैं। वे प्रकृति के बाह्य तथा अन्तर—दोनों स्वरूपों को अपने काव्य में दिखलाते हैं। उन्होंने प्रकृति के पदार्थों को मानवीय व्यवहारवाला चित्रित किया है। वे प्रकृति को उद्दीपन विभाव के रूप में अधिकांश अंश में उपस्थित करते हैं, आलम्बन-विभाव के रूप में कम।

वैसे तो आपके सम्पूर्ण काव्य में प्रकृति के मनोरम दृश्य यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं, तथापि प्रथम सर्ग के नारद-अवतरण प्रसंग में (औपम्य को लेकर), तृतीय सर्ग में द्वारिका-वर्णन-प्रसंग में, चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत के वर्णन में, षष्ठ सर्ग में ऋतुओं के वर्णन-प्रसंग में, नवम सर्ग में सायंकाल (प्रदोष) के वर्णन में, ग्यारहवें सर्ग में प्रभात-काल के वर्णन में तथा द्वादश सर्ग में सेना-प्रयाण के वर्णन-प्रसंग में प्रकृति के विभिन्न रूपों का उत्कृष्ट चित्रण उपस्थित किया गया है।

यहाँ माघकवि की प्रकृति की रूप-माधुरी का दिग्दर्शन किया जा सकता है—

"विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव"

"विङ्कराजांगरुहैरिवायतै-
हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः।
कृतोपवीतं हिमशुभ्रमुच्चकै-
र्घनं घनान्ते तडितां गणैरिव॥"

(सर्ग १, श्लो० ५, ७)

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिता-
श्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां
विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः॥

(सर्ग ४, श्लो० ४७)

"पिता के समान रैवतक पर्वत आज तक अपनी गोद में निःशंक रूप से पुत्री के समान खेलनेवाली तथा आज समुद्ररूपी पति के पास गमन करनेवाली नदियों के वियोग के मारे मानो पक्षियों के कलरव के रूप में मानो रो रहा है।"

यहाँ प्रकृतिगत पदार्थों का मानवीकरण वास्तव में हृदयावर्जक है।

"नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः॥
(सर्ग ६, श्लो० २)

"श्रीकृष्ण ने सामने की ओर नवीन पत्तोंवाले पलाश-वनों से युक्त, स्पष्ट पराग से पूर्ण कमलोंवाले, कोमल तथा धूप से किञ्चत् म्लान लताओंवाले तथा पुष्पसमृद्धि से सुरभित (सुगन्धित) वसन्त-ऋतु को देखा।"

यहाँ वसन्त-ऋतु को एक पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है।

'स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः
प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालित-
स्वसमया समयाज्जगतीधरम्॥'
(सर्ग ६, श्लो० २५)

"विद्युत्रूपी अधीर नयनोंवाली मेघावलि, अधीरनयना उन्नत पयोधर—(जलपूर्णता—पक्षान्तर में) युक्ता नायिका-सी उत्कण्ठाधिक्य के कारण संकेतित-समय से पूर्व ही जगतीधर (रैवतक पर्वत, राजा—पक्षान्तर में) के पास आ पहुँची।"

यहाँ समासोक्ति अलंकार के आश्रय से प्राकृतिक वर्णन (मेघावलि के आगमन का चित्रण) अत्यन्त रोचक बना है।

'प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
ददमपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः॥'
(सर्ग ११, श्लो० ४)

"अपनी पहरेदारी का समय पूरा होने पर सोनेवाला प्रहरी किसी दूसरे मनुष्य द्वारा वार-वार बुलाये जाने पर अस्पष्ट उत्तर देता हुआ भी जागता नहीं है।"

यहाँ प्रभातवर्णन-प्रसंग में स्वभावोक्ति एवं विरोधाभास के माध्यम से रात में जगे हुए मनुष्य को प्रातःकालिक प्राकृतिक स्थिति का वर्णन किया गया है।

'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां हा विचित्रो विपाकः॥'
(सर्ग ११, श्लो० ६४)

यह प्रसिद्ध पद्य भोज-प्रवन्ध में भी उल्लिखित है। यहाँ कुमुदवन, उलूक तथा चन्द्रमा के मुकुलितता, खेद तथा अस्त के वर्णन से एवं कमल, चक्रवाक तथा सूर्य के विकास, प्रीति तथा उदय के वर्णन से दैव के विलास का वैचित्र्य दिखलाया गया है।

इसी प्रकार द्वादश सर्ग में पर्वतों, नदियों, यमुना नदी आदि का वर्णन भी अत्यन्त हृदयावर्जक है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि महाकवि माघ प्रकृति के रहस्य को उद्घाटित करने में समर्थ लेखनी के धनी तथा प्रकृति के अंग-प्रत्यंग का चित्रण करने में समर्थ चित्र ( शब्द-चित्र )-कार हैं। उनका प्रकृति-चित्रण सचमुच ही सहसा सहृदयों के हृदय को आवर्जित कर लेता है।

## घण्टामाघ

जिस प्रकार महाकवि कालिदास को तथा महाकवि भारवि को उनके काव्य में के किसी एक पद्यविशेप के कल्पनावैशिष्ट्य के कारण उन्हें क्रमशः 'दीपशिखाकालिदास' तथा 'आतपत्रभारवि' यह विरुद दिया जाता है, ठीक

उसी प्रकार महाकवि माघ को उनके काव्य के पद्यविशेष के कल्पनावैशिष्ट्य के कारण 'घण्टामाघ' विरुद दिया जाता है। वह पद्य इस प्रकार है—

'उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा-
वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टा-
द्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्॥'

(सर्ग ४, श्लो० २०)

यहाँ प्रभातवर्णन से युक्त रैवतक पर्वत के वर्णन-प्रसंग में कवि उक्त पर्वत को दो बड़े-बड़े घण्टे दोनों ओर धारण करनेवाले गजराज की उपमा दे रहा है। उक्त पद्य का अर्थ इस प्रकार है—

"एक ओर ऊपर फैली हुई किरणों के रूपवाली डोरी से युक्त सूर्य के उदित होते रहने पर तथा दूसरी ओर चन्द्रमा के अस्तंगत होते रहने पर यह (रैवतक) पर्वत दोनों ओर लटकनेवाले दो धातुनिर्मित घण्टोंवाले गजराज की शोभा को धारण कर रहा है।"

इस प्रकार की उत्कृष्टतम कल्पना माघ के महाकवित्व का एक नमूना है। 'कवयः क्रान्तदर्शकाः' उक्ति ऐसे ही महाकवियों के लिए कही गयी है। यह कल्पना-लता ही माघकवि के 'घण्टामाघ' विरुदरूपी यशःप्रसून का कारण है।

## 'शिशुपालवधम्' : एक आलोचनात्मक विवेचन

महाकवि माघ की कीर्तिलता का एकमात्र आधार-पादप उनका महाकाव्य 'शिशुपालवधम्' है।

(क) परिचय—शिशुपालवध महाकवि माघ द्वारा लिखा हुआ एक महाकाव्य है। इसकी कथावस्तु महाभारत के सभापर्व तथा प्रमुखतः श्रीमद्-भागवत के दशमस्कन्ध पर आधृत है। इस काव्य में २० सर्ग हैं। यह महाकाव्य के लक्षणों से युक्त है, इसका विवेचन आगे प्रस्तुत किया जायेगा। इसकी पचीस

से भी अधिक टीकाओं से इसका महत्त्व अनायास अवगत होता है। सभी टीकाओं में संस्कृत-जगत् के अमर टीकाकार 'मल्लिनाथ सूरि' की 'सर्वङ्कषा' टीका सर्वाधिक प्रामाणिक एवं मान्य है। इस टीका के बारे में स्वयं मल्लिनाथ लिखते हैं—

"इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते॥"

इसमें प्रथम सर्ग में कृष्ण को द्वारका में राजमहल में स्थित रहने पर महर्षि नारद द्वारा इन्द्र का सन्देश दिया जाता है कि जिसने पहले जन्मों में रावण तथा हिरण्यकशिपु ( हिरण्याक्ष ) बनकर सबको सताया था, वह आज शिशुपाल ( चेदिनरेश दमघोष का पुत्र ) माहिष्मती नगरी में रहकर सबको त्रास दे रहा है अतः, आप शीघ्र उसे मारें। किञ्च—राजा युधिष्ठिर राजसूय नामक यज्ञ करना चाहते हैं, उस यज्ञ में वे आपकी उपस्थिति चाह रहे हैं। ऐसा कहकर नारदजी चले गये। उसके बाद द्वितीय सर्ग में श्रीकृष्ण, बलराम तथा उद्धव कर्तव्य-विचार करते हैं। उद्धवजी के कथन के अनुसार कृष्ण सदलबल हस्तिनापुर जाने के लिए तैयार होते हैं। तृतीय सर्ग में श्रीकृष्ण का प्रस्थान-वर्णन, द्वारका-वर्णन तथा समुद्र-वर्णन है। चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत का वर्णन है। पञ्चम सर्ग में सेनानिवेश, स्त्री-स्थिति आदि का वर्णन है। षष्ठ सर्ग में ऋतुओं का वर्णन है। सप्तम सर्ग में फूल चुनने का प्रसंग है। अष्टम सर्ग में जलक्रीड़ा का वर्णन है। नवम सर्ग में सायंकाल तथा चन्द्रोदय का वर्णन है। दशम सर्ग में पानगोष्ठी तथा रात्रि-क्रीड़ा का वर्णन है। ग्यारहवें सर्ग में प्रभात-वर्णन है। बारहवें सर्ग में पुनः प्रयाण का और यमुना का वर्णन है। तेरहवें सर्ग में श्रीकृष्ण का पाण्डवों से मिलन, पुरनारियों की चेष्टाएँ तथा युधिष्ठिर के सभा-भवन का वर्णन है। चौदहवें सर्ग में राजसूय यज्ञ का प्रस्ताव तथा अनुष्ठान, श्रीकृष्ण को अर्घ्य देना तथा भीष्मपितामह द्वारा श्रीकृष्ण का स्तवन है। पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल का क्षुब्ध होना, उसके द्वारा सेना सन्नद्ध करना आदि प्रसंग है। सोलहवें सर्ग में शिशुपाल का कृष्ण के प्रति श्लेष के माध्यम से अपशब्द प्रयोग, दूत के प्रति सात्यकि का कथन, दूत द्वारा सन्देश देना तथा उसके द्वारा शिशुपाल के पराक्रम का वर्णन करना है। सत्रहवें सर्ग में श्रीकृष्ण की सभा का क्षुब्ध

होना, सेना का युद्ध के लिए प्रस्थान आदि वर्णित है। अठारहवें सर्ग में युद्ध-वर्णन है। उन्नीसवें सर्ग में भी युद्ध-वर्णन है तथा बीसवें सर्ग में श्रीकृष्ण-शिशुपाल-युद्ध, श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल का वध एवं कवि द्वारा अपने वंश का वर्णन है। इस प्रकार सारी कथावस्तु ( इतिवृत्ति ) को गतिशील बनाया गया है तथा रोचक शैली में ग्रथित हुआ है।

इस काव्य के नायक श्रीकृष्ण तथा प्रति ( खल )-नायक शिशुपाल हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, इसमे वीररस प्रधान ( अंगी ) रस है। पदे-पदे राजनीति, दर्शन आदि विषयों का समावेश है। अलङ्कारों का आकर्षक प्रयोग है। यह कहा जाता है कि इस महाकाव्य की रचना 'किरातार्जुनीयम्' की पद्धति पर है।

इस उपर्युक्त विवेचन से 'शिशुपालवधम्' के बारे में पूरा परिचय प्राप्त होता है।

( ख ) 'शिशुपालवधम्' का महाकाव्यत्व—'लक्ष्यानुसारं लक्षणप्रवृत्तिः' इस नियम के अनुसार आचार्यों ने अपने-अपने समय तक उपलब्ध महाकाव्यों को दृष्टि में रखकर महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किये हैं। आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में षष्ठ परिच्छेद में महाकाव्य के कुछ अनिवार्य लक्षण बतलाये हैं, वे ये हैं—

महाकाव्य की रचना सर्गबद्ध होनी चाहिए। उसमें धीरोदात्त नायक होना चाहिए। उस नायक का प्रायः सम्पूर्ण वृत्त उसमें ग्रथित होना चाहिए। शृङ्गार अथवा वीर में से कोई प्रधान रस होना चाहिए। इसका आख्यान इतिहास-सम्बद्ध व्यक्ति पर आश्रित होना चाहिए। इसमें कम-से-कम आठ सर्ग होने चाहिए। नाटक में अपेक्षित ५ सन्धियाँ भी इसमें होनी चाहिए। सर्ग बहुत छोटे या बहुत बड़े न होने चाहिए। प्रातः, सायं, नदी, पर्वत, वन, सूर्य, चन्द्रमा, ऋतु आदि का वर्णन होना चाहिए। इसमें नायक को फलाप्ति ( उद्देश्यपूर्ति ) होनी चाहिए। इसका नामकरण इसके नायक, नायिका, कथा-प्रसङ्ग आदि के साथ सम्बद्ध होना चाहिए। कहीं दुर्जन-निन्दा, सज्जन-स्तुति आदि विषय होने चाहिए।

अब यहाँ उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर 'शिशुपालवधम्' की परीक्षा की जायगी जिससे स्वतः सिद्ध होगा कि यह एक उत्कृष्ट कोटिवाला महाकाव्य है।

'शिशुपालवधम्' बीस सर्गोंवाला महाकाव्य है। यदुवंशी धीरोदात्त श्रीकृष्ण इसके नायक हैं। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण का उदार चरित उपनिबद्ध हुआ है। वाल्मीकि-रामायण तथा महाभारत की गणना इतिहास में होती है; इसका इतिवृत्त महाभारत के सभापर्व से लिया गया है। इसमें वीररस अंगी है तथा शृङ्गार, रौद्र आदि उसके अंगरूप में उपनिबद्ध हैं। श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल का वध करना (दुष्टनाश) ही इसका फल है; यह नायक को प्राप्त होता है। इसमें 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्' इत्यादि वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण है। इसके किसी भी सर्ग में ५० से कम अथवा १५० से अधिक श्लोक नहीं हैं। सर्गान्त में छन्द बदला गया है। नवम, एकादश आदि सर्गों में सायंकाल, प्रभातकाल आदि का वर्णन है। चतुर्थ में पर्वत-वर्णन, द्वादश में नदी-वर्णन एवं अन्य सर्गों में युद्ध, यात्रा, ऋतु, वनविहार, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन भी महाकाव्य के लक्षण के अनुरूप है।

घटना के अनुरूप इसका नामकरण 'शिशुपालवधम्' किया गया है।

इस प्रकार शास्त्रीय कसौटी पर खरा उतरनेवाला यह एक सर्वाङ्गपूर्ण महाकाव्य है।

## 'शिशुपालवधम्' में तात्कालिक स्थिति

'साहित्य समाज का दर्पण होता है' यह उक्ति प्रायः सभी चिरस्मरणीय कवियों की रचना के बारे में चरितार्थ हुई है। प्रस्तुत काव्य में भी यही स्थिति है। 'शिशुपालवधम्' के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तात्कालिक समाज में वर्ण-व्यवस्था थी। धार्मिक स्थिति—सन्ध्या-वन्दन, हवन, यज्ञ आदि होते थे। राजा युधिष्ठिर के यज्ञ में ही श्रीकृष्ण हस्तिनापुर जाते हैं। अतिथि का सत्कार किया जाता था; श्रीकृष्ण-नारद-संवाद से यह बात स्पष्ट होती है—

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवसीयते यथा।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम्॥

(सर्ग १, श्लोक ३०)

## सामाजिक स्थिति

सती-प्रथा प्रचलित थी। पुनर्जन्म में दृढ़ विश्वास था। नारद, कृष्ण से कहते हैं—

**'सतीव योषित् प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि'**
( सर्ग १, श्लो० ७२ )

विवाह के बाद कन्या को विदा करते समय कैसा वियोग-दुःख माता-पिता को होता था, इसका संकेत रैवतक पर्वत के व्यवहार से दिया गया है, ( सर्ग ४, श्लोक ४७ )। बड़े घरों में आहार-विहार का प्रमुख स्थान था, विभिन्न प्रकार के प्रमोद-साधन उपलब्ध थे। कर्णाभूषण, हार, करधनी आदि आभूषणों को पहनने की प्रथा थी। बहु-विवाह प्रचलित था। स्त्रियाँ शस्त्र तथा शास्त्र दोनों में निपुण होती थीं।

गाँवों में भी लोग सुखी थे, कृषि-व्यवसाय उन्नत था। शालि-कन्यका के उल्लेख से ज्ञात होता है कि स्त्रियों का भी सहयोग कृषि आदि कार्यों में होता था।

## राजनैतिक स्थिति

देश अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था। शक्तिशाली राजा के आधीन अनेक माण्डलिक राजा रहते थे। युद्ध में अस्त्र-शस्त्र दोनों का प्रयोग होता था। युद्ध के नियमों का पालन पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों द्वारा होता था। दूत भेजने की परम्परा थी। दूत का वध या दण्ड निषिद्ध माना जाता था। नगर के चारों ओर परकोटा होता था। राजनीतिशास्त्र का सर्वांगीण प्रसार-प्रचार था। वैसे तो सम्पूर्णरूप से इस काव्य में यत्र-तत्र राजनीति-विषयक चर्चा है, तथापि द्वितीय सर्ग में यह चर्चा अधिक स्पष्ट और आदर्शभूत है।

## त्रुटियाँ तथा विशेषताएँ

कुछ आलोचक 'शिशुपालवधम्' को अलंकार-प्रधान होने से अपेक्षाकृत कम सरस मानते हैं। उनका कथन है कि इसमें शब्दों की ओर विशेष ध्यान

दिया गया है; अलंकारों को भरने की ओर कवि ने अधिक ध्यान दिया है, रसपरिपाक की ओर कम।

किन्तु यह त्रुटि बतलाना उचित नहीं है, क्योंकि माघ के समय इस प्रकार की शैली साहित्य में प्रचलित हो चुकी थी जिसे अलंकृतशैली के नाम से जाना जाता है।

'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः'

इस कालिदासोक्ति के अनुसार भी यह त्रुटि इस काव्य की विशेषताओं के सामने सर्वथा नगण्य है।

माघ की यह विशेषता है कि उन्होंने एक छोटी-सी कथा को महाकाव्य का रूप प्रदान किया। इसमें कथा-प्रवाह इतना रोचक तथा प्रभावी है कि पाठक मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। इसमें कवि ने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा को स्थान दिया है। कवि की रचना-चातुरी, वर्णन-कौशल, शब्द-चयन की सावधानी एवं नैपुण्य, पाण्डित्य और सहृदयता—ये सारी विशेषताएँ प्रत्येक सुजन को आकृष्ट कर लेती हैं। संस्कृत-साहित्य में लघुत्रयी तथा बृहत्त्रयी के नाम से कुछ काव्यों का वर्गीकरण किया गया है। यह काव्य भी बृहत्त्रयी में से एक है। यह महाकवि कालिदास के 'रघुवंशम्', 'कुमारसम्भवम्', भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' तथा श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरितम्' की तुलना में रक्खा जाता है। अलंकारों का सौष्ठव, अर्थ तथा भाव का गाम्भीर्य, शुद्ध पद-प्रयोग आदि दृष्टि से इस काव्य का स्थान पूर्वोक्त काव्यों में महत्त्वपूर्ण है।

प्राकृतिक वर्णन, सामाजिक चित्रण, युद्धवर्णन, राजनीति के रहस्यात्मक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का उद्घाटन, विभिन्न दार्शनिक विषयों का रसमय-पद्धति से उपस्थापन, अलंकारों के उत्कृष्ट प्रयोग आदि अनेकानेक विशेषताओं से परिपूर्ण यह महाकाव्य सर्वथा पठनीय, मननीय तथा अनुशीलनीय है।

यह संस्कृत-साहित्यगगन का एक रुचिकर प्रकाश से पूर्ण महत्त्वशाली नक्षत्र है।

## महाकवि माघ तथा भारवि

महाकवि माघ ने 'शिशुपालवधम्' महाकाव्य की रचना में भारवि का अनुकरण किया है, किन्तु उनकी मौलिकता और प्रतिभा की छाप भारवि के प्रभाव से दवी नहीं है। यही कारण है कि माघ का वैशिष्टय आज भी वना हुआ है।

महाकवि माघ ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की सभी विशेषताओं का संग्रह करने की इच्छा से प्रेरित होकर ही भारवि का अनुकरण किया और यह वात परवर्ती कवि के लिए उपयुक्त भी थी।

कुछ पाश्चात्य आलोचक अपनी आदत के अनुसार भारवि और माघ के परस्पर द्वेष का परिणाम 'शिशुपालवधम्' महाकाव्य की रचना है, ऐसा मानते हैं। वे अपने मत के समर्थन के लिए भा + रवि (सूर्य की कान्ति) और माघ (माघ मास) शब्दों की व्युत्पत्ति को उपस्थित करते हैं, क्योंकि माघ महीने में सूर्य का ताप कुछ मन्द हो जाता है।

यह तर्क कुछ समय के लिए भले ही उचित प्रतीत होता हो, किन्तु विचार करने के वाद इसकी तुच्छता आसानी से सभी की समझ में आ जाती है।

किसी पूर्ववर्ती कवि का अनुकरण उसकी महत्ता के कारण अधिक सम्भव है, द्वेष के कारण नहीं। द्वेष करनेवाला मनुष्य अपने प्रतिपक्षी को आदर्श कैसे वना सकता है? कला के पावन-क्षेत्र में द्वेष जैसे संकीर्ण भाव को स्थान नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इस न्याय के अनुसार माघ ने भारवि का अनुकरण किया है। भारवि और माघ, ये वास्तविक नाम ही हैं; आलोचकों द्वारा प्रदत्त उपाधियाँ नहीं हैं ऐसा मत अधिक उचित प्रतीत होता है।

अस्तु! जो भी हो, यह सत्य है कि माघ ने भारवि का अनुसरण किया है और अपनी मौलिकता भी कायम रक्खी है।

दोनों की रचनाओं में निम्नलिखित प्रकार से समानताएँ और असमानताएँ हैं—

( १ ) दोनों ही महाकाव्यों का प्रारम्भ 'श्री' शब्द से होता है। 'श्रियः कुरूणाम्' इत्यादि 'किरातार्जुनीयम्' का पहला श्लोक है। 'श्रियः पतिः श्रीमति' इत्यादि 'शिशुपालवधम्' का पहला श्लोक है।

( २ ) किरात के पहले सर्ग में वनेचर हस्तिनापुर से युधिष्ठिर के पास आता है। 'शिशुपालवधम्' में नारद स्वर्ग से श्रीकृष्ण के पास आते हैं।

( ३ ) दोनों महाकाव्यों के प्रत्येक सर्ग की समाप्ति में, क्रमशः 'किरात' में लक्ष्मी शब्द का और 'शिशुपालवधम्' में श्री शब्द का प्रयोग किया गया है।

( ४ ) दोनों महाकाव्यों के दूसरे सर्ग में तीन राजनीतिज्ञों ने अपनी-अपनी युक्तियाँ और पक्ष उपस्थित किये हैं। 'किरातार्जुनीयम्' में द्रौपदी, भीमसेन और युधिष्ठिर हैं; तो 'शिशुपालवधम्' में बलराम, उद्धव और श्रीकृष्ण हैं; दोनों में युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण का पक्ष सिद्धान्त-पक्ष है।

( ५ ) दोनों में यात्रा-वर्णन है। 'किरात' में अर्जुन की यात्रा है और 'शिशुपालवध' में श्रीकृष्ण की।

( ६ ) दोनों महाकाव्यों में पर्वत-वर्णन है। 'किरात' के पाँचवें सर्ग में हिमालय का वर्णन तथा 'शिशुपालवध' के चौथे सर्ग में रैवतक पर्वत का वर्णन है।

( ७ ) दोनों में सन्ध्याकाल, अन्धकार, चन्द्रोदय, विभिन्न प्रकार के विलासविहार आदि का वर्णन समान-सा है।

( ८ ) 'किरात' के तेरहवें और चौदहवें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूप-धारी शिव के गण के साथ वाद-विवाद हुआ है, और 'शिशुपालवधम्' के सोलहवें सर्ग में शिशुपाल के दूत तथा सात्यकि के बीच वाद-विवाद हुआ है।

( ९ ) 'किरात' के पन्द्रहवें सर्ग में तथा 'शिशुपालवधम्' के उन्नीसवें सर्ग में चित्रबन्ध है। यह चित्रकाव्य का उत्कृष्ट नमूना है।

( १० ) अलङ्कार, छन्द और रस की दृष्टि से भी दोनों में बहुत कुछ समानता है। इस प्रकार की समानता होते हुए भी माघ में भारवि की अपेक्षा कुछ अंश असमान हैं और अपनी मौलिकता लिये हुए हैं। उनकी रचना उन्हीं के समान अपना वैशिष्ट्य प्रतिष्ठित करती है।

भारवि शैव थे और उसी प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने अपने काव्य में शिव को वरदाता के रूप में दिखलाया है।

माघ वैष्णव थे और उन्होंने उसी प्रवृत्ति के अनुसार श्रीकृष्ण की प्रधानता अपने काव्य में दिखलायी है।

'किरात' में १८ सर्ग हैं, तो 'शिशुपालवध' में २० सर्ग।

एक 'आतपत्र' उपाधि से भारवि भूषित हैं, तो दूसरे 'घण्टामाघ' उपाधि से।

भारवि में जो अर्थगौरव है, माघ में उपलब्ध अर्थगौरव उस स्तर का नहीं है।

माघ में नये-नये शब्दों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति उन्हें विस्तार की ओर ले जाती है।

भारवि ने अपनी कथावस्तु महाभारत से ली है तो माघ ने भागवत से। माघ के सम्बन्ध में कहा जाता है—

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

अर्थात् माघ में कालिदास, भारवि और दण्डिन् के समान क्रमशः उपमा, अर्थगौरव और पदलालित्य विद्यमान है। यह कथन अधिक अंश में उपयुक्त भी है।

यह तो निर्विवाद है कि माघ, भारवि के बाद के हैं।

अतः अपने 'महाकाव्य' की विशिष्टता कायम रखने के लिए पूर्व ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक चारुता और कलात्मकता का सम्पादन माघ के लिए उचित ही है।

वे भारवि का अनुकरण करते हुए भी मौलिकता लिये हुए हैं।

॥ श्रीः ॥

# शिशुपालवधम्

## प्रथमः सर्गः

### अथ सर्वङ्कषा

इन्दीवरदलश्याममिन्दिरानन्दकन्दलम् ।
वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् ॥

दन्ताञ्चलेन धरणीतलमुन्नमय्य पातालकेलिषु धृतादिवराहलीलम् ।
उल्लाघनोत्फणफणाधरगीयमानक्रीडवदानमिभराजमुखं नमामः ॥

शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे ।
सर्वदासर्वदास्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात् ॥

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥

मल्लिनाथसुधीः सोऽयं महोपाध्यायशब्दभाक् ।
विधत्ते माघकाव्यस्य व्याख्यां सर्वंकषाभिधाम् ॥

ये शब्दार्थपरीक्षणप्रणयिनो ये वा गुणालंक्रिया-
शिक्षाकौतुकिनोविहर्तुमनसो ये च ध्वनेरध्वगाः ।
क्षुभ्यद्भावतरङ्गिते रससुधापूरे निमङ्क्षन्ति ये
तेषामेव कृते करोमि विवृतिं माघस्य सर्वंकषाम् ॥

नेतास्मिन् यदुनन्दनः स भगवान् वीरः प्रधानो रसः
शृङ्गारादिभिरङ्गवान्विजयते पूर्णा पुनर्वर्णना ।

इन्द्रप्रस्थगमाद्युपायविषयश्चैद्यावसादः फलं
धन्यो माघकविर्वयं तु कृतिनस्तत्सूक्तिसंसेवनात् ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

अथ तत्रभवान् माघकविः काव्यं "यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥" ( काव्यप्रकाशः १।२ ) इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयः साधनतां, "काव्यालापांश्च वर्जयेत्" इति निषेधस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन् शिशुपालवधाख्यं काव्यं चिकीर्षुः चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणसाधनत्वात् "आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्" ( काव्यादर्शः १।१४ ) इत्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वाच्च काव्यफलं शिशुपालवधबीजभूतं भगवतः श्रीकृष्णस्य नारददर्शनरूपं वस्तु आदौ 'श्री' शब्दप्रयोगपूर्वकं निर्दिशन् कथामुपक्षिपति—

## अथ सारग्राहिणी

नागराजिलसितौ तपोनिधी
धीपती विमलभूतिभासितौ ।
भव्यसिन्धुरमणी श्रुतिप्रभौ
विघ्नराजशशिशेखरौ नुमः ॥

विद्वन्मानसबोधहंसललितां नीलालकाम्भोधरां
चञ्चत्कुण्डलचञ्चलाविलसितां वक्त्रेन्दुबिम्बप्रभाम् ।
लोलल्लोचनचक्रवाकयुगलामुल्लाससन्दोहदां
वर्षाशारदरूपयुग्मधुरां वन्दे सदा शारदाम् ॥

कवि द्वारका के राजप्रासाद में स्थित श्रीकृष्ण द्वारा नारदमुनि को देखने की बात कर रहे हैं—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जग-
ज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन् ददर्शावतरन्तमम्बरा-
द्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥ १ ॥

**अन्वय**—श्रियः पतिः, जगन्निवासः, हरिः जगत्, शासितुं, श्रीमति, वसुदेव-सद्मनि, वसन्, अम्बरात्, अवतरन्तं, हिरण्यगर्भाङ्गभुवं, मुनिं, ददर्श ॥ १ ॥

**अनुवाद**—लक्ष्मी के पति, संसार के आधारस्वरूप, दुष्टदमन तथा शिष्ट-रक्षण से संसार का शासन करने के लिए शोभायुक्त वसुदेव-भवन में श्रीकृष्णरूप से निवास करते हुए हरि ने आकाशमार्ग से उतरते हुए ब्रह्मा के मानसपुत्र महर्षि नारद को देखा ॥ १ ॥

**सर्वङ्कषा**—श्रिय इति ॥ तत्रादौ 'श्री' शब्दप्रयोगात् वर्णगणादिशुद्धे-रभ्युच्चयः। तदुक्तम्—"देवतावाचकाः शब्दाः ये च भद्रादिवाचकाः। ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा" इति। श्रियो लक्ष्म्याः पतिः। अनेन रुक्मिणीरूपया श्रिया समेत इति सूचितम्। "राघवत्वेऽभवत् सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि" इति विष्णुपुराणात्। जगन्निवासो जगताम् आधारः, कुक्षिस्थाखिलभुवन इति यावत्। तथापि जगत् लोकं शासितुं दुष्टनिग्रहशिष्टा-नुग्रहाभ्यां नियन्तुं श्रीमति लक्ष्मीयुक्ते वसुदेवसद्मनि वसुदेवरूपस्य कश्यपस्य वेश्मनि वसन् कृष्णरूपेण तिष्ठन् हरिः विष्णुः अम्बरात् अवतरन्तम् आयान्तम् इन्द्रसन्देशकथनार्थमिति भावः। हिरण्यस्य गर्भो हिरण्यगर्भो ब्रह्माण्डप्रभवत्वात्। तस्याङ्गभुवं तनूजम्। अथवा तस्याङ्गाद् अवयवाद् उत्सङ्गाख्याद् भवति इति हिरण्यगर्भाङ्गभूस्तम् मुनिं, नारदमित्यर्थः। "उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठा-त्स्वयम्भुवः" इति भागवतात् ( ३।१२।२३ )। ददर्श, कदाचिद् इति शेषः। अत्राल्पीयसि वसुदेवसद्मनि सकलजगदाश्रयतया महीयसः हरेः आधेयत्वकथनाद् अधिकप्रभेदोऽर्थालङ्कारः। तदुक्तम्—"आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः" इति। जगन्निवासस्य जगदेकदेशनिवासित्वमिति विरोधश्च। तथा तकार-सकारादेः केवलस्य असकृदावृत्त्या जगज्जगदिति सकृद् व्यञ्जनद्वयसादृश्याच्च वृत्त्यनुप्रासभेदौ शब्दालङ्कारौ। एषां च अन्योन्यनैरपेक्ष्येण एकत्र समावेशात् तिलतण्डुलवत् संसृष्टिः। सर्गेऽस्मिन् वंशस्थं वृत्तम्। "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ" इति तल्लक्षणात् ॥ १ ॥

**सारग्राहिणी**—मङ्गलाचरण के तीन प्रकार साहित्य-शास्त्र में कहे गये हैं—'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्।' उनमें से यहाँ वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण है।

पूरे प्रथम सर्ग में वंशस्थ वृत्त है; उपान्त्य अर्थात् ७४ वें पद्य में पुष्पिताग्रा वृत्त तथा अन्तिम अर्थात् ७५ वें पद्य में शार्दूलविक्रीडित वृत्त है। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(क) 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ'

(ख) 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो
युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा'

(ग) 'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्'

(१) श्रियः पतिः—लक्ष्मी के पति अर्थात् द्वापर युग में रुक्मिणी के पति श्रीकृष्ण (ने)। विष्णुपुराण के अनुसार रुक्मिणी, लक्ष्मी का अवतार है। श्रियः = श्री (स्त्रीलिंग) का ष० ए० व०, पतिः = पति (पुं०) का प्र० ए० व०। 'हरिः' का विशेषण।

जगन्निवासः—संसार के आधारस्वरूप। निवासः—निवास + √वस् + घञ् (प्र० ए० व० का रूप)। 'जगन्निवासः' पद भी 'हरिः' का विशेषण है।

(३) जगत् शासितुम्—संसार का दुष्टदमन तथा शिष्टरक्षण से शासन करने के लिए। 'जगत्' शासितुं में की शासन-क्रिया का कर्म है। शासितुम्—√शास् + इ + तुमुन्।

(४) श्रीमति—शोभायुक्त अथवा रुक्मिणीरूपी लक्ष्मी से युक्त। 'वसुदेवसद्मनि' का विशेषण है। 'श्रीमत्' का स० ए० व०। श्री + मतुप् = श्रीमत्।

(५) वसुदेवसद्मनि—वसुदेव के भवन में अर्थात् राजप्रासाद में। सद्म शब्द का स० ए० व०। 'वास' क्रिया के कर्त्ता 'हरिः' का आधार।

(६) वसन्—(श्रीकृष्णरूप से) निवास करते हुए। 'हरिः' का विशेषण है। √वस् + शतृ, प्र० ए० व० (पुंलिङ्ग)।

(७) हरिः—हरि ने अर्थात् श्रीकृष्ण ने। हरि ही श्रीकृष्णरूप से अवतीर्ण होकर वसुदेव-भवन में निवास कर रहे थे। दर्शन-क्रिया का कर्त्ता।

(८) अम्बरात् अवतरन्तम्—आकाशमार्ग से उतरते हुए; 'मुनिम्' का विशेषण है। अम्बरात् = 'अम्बर' का पं० ए० व०। अवतरन्तम्—अव + √तृ + शतृ (द्वि० ए० व०)।

( ९ ) हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिम्—ब्रह्मा के मानस-पुत्र अर्थात् महर्षि नारद को। दर्शन-क्रिया का कर्म। हिरण्यगर्भ + अङ्ग + भू, द्वि० ए० व०; 'मुनिम्' का विशेषण है। वल्लभदेव के अनुसार वक्ष्यमाण रूपवाले नारद के लिए 'मुनि' शब्द का प्रयोग कवि की ओर से है।

( १० ) ददर्श—देखा। √दृश् + लिट् ( प्र० पु० ए० )।

**व्याकरण**—जगन्निवासः-जगतां निवासः इति जगन्निवासः (ष० तत्पु०)। वसुदेवसद्मनि-वसुदेवस्य सद्म वसुदेवसद्म तस्मिन् ( ष० तत्पु० )। हिरण्यगर्भाङ्ग-भुवम्—हिरण्यस्य गर्भः हिरण्यगर्भः; अङ्गाद् भवतीति अङ्गभूः; हिरण्यगर्भस्य अङ्गभूः हिरण्यगर्भाङ्गभूः; तम् ( ष० तत्पु० )।

**कोश**—'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया', 'वसुदेवोऽस्य जनकः', 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्', 'हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयम्भूश्चतुराननः'—इति च अमरः।

**अलंकार**—श्रियः पति का श्रीमत् वसुदेव गृह में निवास बतलाया गया है; अतः, सम नामक अलंकार है। सम का लक्षण इस प्रकार है—

'सममौचित्यतोऽनेकवस्तुसम्बन्धवर्णनम्' ( चन्द्रालोक ५ म० )

'जगन्निवास' को 'वसुदेवसद्मनि वसन्' कहा गया है; अतः आधार की अपेक्षा आधेय को अधिक बतलाने के कारण 'अधिक' अलंकार है। अधिक का लक्षण इस प्रकार है—

'अधिकं बोध्यमाधारादाधेयाधिकवर्णनम्' ( चन्द्रालोक ५ म० )

इस पद्य में वृत्त्यनुप्रास भी है; अतः उक्त अनेक अलंकारों की संसृष्टि है। तिल-तण्डुल-न्याय से जहाँ अलंकार रहते हैं, वहाँ संसृष्टि होती है।

**नोट**—वल्लभदेव 'शिशुपालवधम्' के एक प्राचीन टीकाकार हैं।

तदानीं जनैर्विस्मयाद् ईक्षितुं प्रवृत्तमित्याह—

उस समय द्वारकानिवासी लोगों द्वारा व्याकुलता के साथ आनेवाले तेजः पुञ्ज ( रूप नारद को प्रथम ) देखने का वर्णन कवि करते हैं—

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः
प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः
किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥ २ ॥

**अन्वय**—अनूरुसारथेः, गतं, तिरश्चीनं (प्रसिद्धम्), हविर्भुजः, ऊर्ध्वज्वलनं, प्रसिद्धम्, इदं, सर्वतः, विसारि, धाम, अधः, पतति, किम्, एतत्, इति, आकुलं, जनैः, ईक्षितम् ॥ २ ॥

**अनुवाद**—सूर्य की गति तिरछी होती है, अग्नि का (ज्वालाओं के रूप में) ऊपर उठना (अथवा जलना) प्रसिद्ध है; चारों ओर फैलनेवाला (यह) तेज नीचे की ओर आ रहा है; यह क्या है? इस प्रकार द्वारकावासी जनों द्वारा विस्मयपूर्वक देखा गया ॥ २ ॥

**सर्वंकषा**—गतमिति ॥ अविद्यमानावूरू यस्य सोऽनूरुः सः सारथिर्यस्य तस्य अनूरुसारथेः सूर्यस्य गतं गतिः । भावे क्तः । तिरश्चीनम् तिर्यग्भूतम् । "विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्" (पा० ५।४।८) इति तिर्यक् शब्दाद् अञ्चत्यन्तात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे खप्रत्ययः । हविर्भुजः अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं ऊर्ध्वस्फुरणं प्रसिद्धम् । इदं तु सर्वतो विसारि धाम अधः पतति । किम् एतद् इति सूर्याग्निविलक्षणमदृष्टपूर्वमिदं धाम किमात्मकं स्यादिति आकुलम् विस्मयात् सम्भ्रान्तं यथा स्यात्तथा जनैः ईक्षितम् ईक्षणं कृतम् । सकर्मकादप्यविवक्षिते कर्मणि क्तः । "प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया" इति वचनात् । केचित् कर्मणि क्तान्तं कृत्वा ईक्षितं मुनिं ददर्श इति पूर्वेण योजयन्ति । अत्रोपमेयस्य मुनिधाम्नः सूर्याग्निभ्याम् उपमानाभ्याम् अधःप्रसरणधर्मेण आधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे (१०।१०५)—"उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः" इति । "धाम रश्मी गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः" इति हेमचन्द्रः । दिवाकरस्तु वृत्तरत्नाकरटीकायां प्रथमपठितेन "द्विधाकृतात्मा किमयं दिवाकरो, विधूमरोचिः किमयं हुताशनः" इति चरणद्वयेन सह इममेव श्लोकं षट्पदच्छन्दस उदाहरणमाह । तत्र आद्यचरणद्वयेन सन्देहालङ्कारो गतमिति तन्निरासश्च इत्युपरिष्टात् ॥ २ ॥

सारग्राहिणी—(१) अनूरुसारथेः—सूर्य की। अनूरुसारथि, ष० ए० व०।

( २ ) गतम्—गति। √गम् + क्त।

( ३ ) तिरश्चीनम्—तिरछी होती है। 'भवति' ऐसी क्रिया यहाँ अपनी ओर से लगानी चाहिए। तिर्यक् + √अञ्च + ख ( विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम् ) को ईन ( आयनेयीनीयियः इत्यादि सूत्र से ) = तिरश्चीन। नपुं० प्र० ए० व० में तिरश्चीनम्।

( ४ ) हविर्भुजः—अग्नि का। हविष् + √भुज् + क्विप्, ष० ए० व०।

( ५ ) ऊर्ध्वज्वलनम्—ऊपर की ओर जलना। अग्नि लपट के रूप में ऊपर उठकर जलता है।

( ६ ) प्रसिद्धम्—प्रसिद्ध है। यहाँ भी 'अस्ति' क्रिया अपनी ओर से लगानी चाहिए। प्र + √षिध् + क्त। 'धात्वादेः षः सः' से ष की जगह सकार होता है। वल्लभदेव ने इस शब्द को 'तिरश्चीनं गतम्' के भी साथ जोड़ा है।

( ७ ) सर्वतः विसारि—चारों ओर फैलनेवाला। सर्व + तसिल् ( सार्वविभक्तिक ) = सर्वतः ( यहाँ यह तसिल् प्रत्यय सप्तमी के अर्थ में हुआ है; अतः इसका अर्थ है सभी दिशाओं में )। विसारि—वि + √सृ + णिनि। एतत्—ऐसा अपनी ओर से लगाना चाहिए। इसका अर्थ है 'यह', जो धाम की ओर संकेत करता है।

( ८ ) धाम—तेज। 'धामन्' का नपुं० प्र० ए० व०।

( ९ ) अधः पतति—नीचे की ओर आ रहा है।

( १० ) एतत् किम्—यह क्या है? अर्थात् सूर्य तथा अग्नि से अतिरिक्त यह कौन-सा तेज है?

( ११ ) इति—इति प्रकार। अव्यय है।

( १२ ) जनैः—द्वारकावासी लोगों द्वारा। ईक्षण-क्रिया का कर्ता है। जन, तृ० ब० व०।

( १३ ) आकुलम् ईक्षितम्—व्याकुलता अथवा विस्मय से देखा गया। √ईक्ष + इ + क्त।

व्याकरण—अनूरुसारथेः—न स्तः ऊरू यस्य सः अनरुः अनूरुः सारथिः यस्य सः तस्य अनूरुसारथेः ( बहुव्रीहि )। हविर्भुजः—हविः भुङ्क्ते इति हविर्भुक् तस्य

( तत्पु० )। ईक्षितम्—को 'भावे क्तः' से क्तप्रत्ययान्त माना जा सकता है, क्योंकि ईक्ष धातु सकर्मक होने पर भी 'प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' के अनुसार इसे अकर्मक माना जा सकता है; अथवा इसे कर्म अर्थ में क्तान्त मानें, तो यह प्रथम पद्य में प्रयुक्त 'मुनिम्' का विशेषण हो सकता है।

कोश—'सूर्यसूतोऽरुणोनूरुः काश्यपिर्गरुडाग्रजः'—इत्यमरः। 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः—इत्यमरः।

अलंकार—सूर्य और अग्नि के तेज की अपेक्षा नारद के तेज को अधिक व्यापक तथा वैशिष्ट्यशाली बतलाने से यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है। व्यतिरेक अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार है—'व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः' ( चन्द्रालोक ५ म० )।

यहाँ प्रथम दो चरणों में सन्देह तथा 'गतम्' इत्यादि से उस सन्देह का निराकरण बतलाने से निश्चयगर्भ सन्देह अलंकार है। सन्देह का लक्षण इस प्रकार है—'सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः' (साहि० दर्प० १०,३५)।

यहाँ पूर्वार्ध में के वाक्यों को देखकर उन्हें उत्तररूप में तथा 'क्या यह सूर्य होगा ? अथवा क्या यह अग्नि होगा ?' इस प्रकार के प्रश्नों की कल्पना होती है; अतः, यहाँ उत्तर अलंकार है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

'किञ्चिदाकूतसहितं स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम्' ( कुवलयानन्द )।

अथ भगवान्निरणैषीदित्याह—

अब भगवान् श्रीकृष्ण ने उक्त तेज को क्रमशः नारद के रूप में समझा, यह कहा जा रहा है—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा[१]
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः ॥ ३ ॥

अन्वय—विभुः, सः, पुरा, त्विषां, चयः इति, अवधारितम्, ततः, विभाविताकृतिं, शरीरी, इति, अवधारितम्, ( ततः ) विभक्तावयवं, पुमान्, इति, अवधारित, क्रमात्, अमुं, नारदः, इति, अबोधि ॥ ३ ॥



१. 'पुरः' इति वल्लभः।

अनुवाद—उन भगवान् श्रीकृष्ण से पहले तेजःपुञ्ज इस प्रकार समझे गये, उसके वाद प्रतीत हुए आकारवाले को 'शरीरधारी' इस प्रकार समझे गये, उसके वाद स्पष्ट हुए हाथ, पैर आदि अवयवोंवाले को पुरुष इस प्रकार समझे गये, उसे क्रमशः नारद इस प्रकार समझा ॥ ३ ॥

सर्वङ्कषा—चय इति ॥ विभुः वस्तुतत्त्वावधारणसमर्थः स हरिः पुरा प्रथमं त्विषां चयः इति अवधारितं तेजःपुञ्जमात्रत्वेन विनिश्चितम् । ततः प्रत्यासन्ने सति विभाविता विमृष्टा आकृतिः संस्थानं यस्य तं तथोक्तम् । अतएव शरीरी चेतन इति अवधारितम् । ततो विभक्ता विविच्य गृहीता अवयवा मुखादयो यस्य तं तथोक्तम् । अतएव पुमानिति अवधारितम् । अमुम् आगच्छन्तं व्यक्ति-विशेषम् नारदं वास्तवाभिप्रायेणेति पुँलिङ्गनिर्वाहः । क्रमात् पूर्वोक्तसामान्य-विशेषज्ञानक्रमेण । लोकदृष्ट्येदमुक्तं, हरिस्तु सर्वं वेद एवेति तत्त्वम् । नारद इति अवोधि, नारदं बुद्धवान् इत्यर्थः । नारदस्य कर्मत्वेऽपि निपातशब्देनाभिहित-त्वान्न द्वितीया। तिङाम् उपसङ्ख्यानस्य उपलक्षणत्वात् । यथाह वामनः ( काव्या० सू० ५।२।२१ )—"निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः । परिगणनस्य प्रायिकत्वात्" इति बुध्यतेः कर्तरि लुङ् । "दीपजन०" ( पा० ३।१।६१ ) इत्यादिना चिण् । "चिणो लुक्" ( पा० ६।४।१०४ ) इति तस्य लुक् । अत्र विभाविताकृतिं विभक्तावयवम् इत्यादिना आकृतिविभावनावयवविभावनयोः पदार्थयोः विशेषणवृत्त्या शरीरित्वपुंस्त्वाद्यवधारणहेतुत्वेन उपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः । "हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्" इति लक्षणात् ॥ ३ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) विभुः—समर्थ । मल्लिनाथ के अनुसार भी यही अर्थ है; वे लिखते हैं—'विभुः वस्तुतत्त्वावधारणसमर्थः । 'सः' का विशेषण है।

( २ ) सः—( प्रथम श्लोक में वर्णित रूपवाले ) उन श्रीकृष्ण ने । 'अवोधि' क्रिया का कर्ता ।

( ३ )पुरा—पहले; अर्थात् दृष्टि पड़ते ही सर्वप्रथम । अव्यय ।

( ४ ) त्विषां चयः इति—कान्तियों का समूह इस प्रकार । त्विषाम्—त्विष्, ष० ब० व० स्त्री० । इति—अव्यय ।

( ५ ) अवधारितम्—समझे गये। 'अमुम्' का विशेषण है। अव + √धृ + णिच् + क्त = अवधारित, द्वि० ए० व०।

( ६ ) ततः—उसके बाद; अर्थात् कान्तिसमूह के रूप में समझने के बाद। तत् + तसील् = ततस्, रुत्व-विसर्ग।

( ७ ) विभाविताकृतिम्—ज्ञात हुए आकारवाले। वि + √भू + णिच् + क्त = विभावित; आ + √कृ + क्तिन् = कृति; विभावित + आकृति = विभाविताकृति, पुं० द्वि० ए० व०। नारद के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः,

( ८ ) शरीरी + इति—देहधारी इस प्रकार ( समझे गये )। शरीर + इन् ( णिनि ) = शरीरिन्, प्र० ए० व० = शरीरी। उसके बाद,

( ९ ) विभक्तावयवम्—पृथक्-पृथक् ( रूप से ज्ञात ) अवयववाले; विभक्त + अवयव। वि + √भज् + क्त = विभक्तावयव, द्वि० ए० व०; 'अमुं' का विशेषण है।

( १० ) पुमान् इति—पुरुष इस प्रकार ( समझे गये )। अवयव स्पष्टरूप से विदित होने पर पुरुष के रूप में समझा जाना उपयुक्त ही है।

( ११ ) अमुम्—इन्हें। 'अवोधि' क्रिया का कर्म। मल्लिनाथ ने 'अमुम्' का अर्थ 'आगच्छन्तं व्यक्तिविशेषम्' किया है।

( १२ ) क्रमात्—क्रमशः; अर्थात् प्रथमतः—'त्विषां चयः' द्वितीयतः—'शरीरी' और तृतीयतः—'पुरुष' रूप में समझे गये ( इन्हें )।

( १३ ) नारदः इति—नारद इस प्रकार; अर्थात् ये नारद हैं, इस प्रकार। नारं = ज्ञान ददाति इति नारदः।

( १४ ) अबोधि—समझा। √बुध + लुङ्, प्र० पु० ए० व० ( कर्तृवाच्य )

व्याकरण—विभाविताकृतिम्-विभाविता आकृतिः यस्य सः तम् ( बहु० )। विभक्तावयवम्—विभक्ताः अवयवाः यस्य सः तम् ( बहु० )।

—'सः अमुं नारदः इति अवोधि' इस वाक्य में नारद बोधन-क्रिया का प्रामुख्येण कर्म है, अतः, उसे द्वितीया विभक्ति होनी चाहिए थी, किन्तु 'नारद इति' में 'इति' इस निपात शब्द से अभिहित होने के कारण द्वितीया नहीं हुई, अपितु अभिहित कर्म में प्रथमा विभक्ति हुई है।—ऐसा मल्लिनाथ का कथन है।

किन्तु वल्लभदेव के अनुसार—इति शब्द इस पद्य में सर्वत्र अर्थात् 'त्विषां चयः', 'शरीरी', 'पुमान्' और 'नारदः' को अपने अर्थ में बाँध लेता है; अतः; इन शब्दों में 'प्रातिपदिकार्थ लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (पाँ० सू० २।३।४६) से प्रथमा हुई है।

कोश —'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः'—इत्यमरः। 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः'—इति अमरः। 'चयः समूहे' इतिमेदिनी।

अलंकार—यहाँ 'विभाविताकृतित्व, विभक्तावयवत्व आदि शरीरित्व, पुरुषत्व' आदि के ज्ञान के प्रति कारणरूप में प्रस्तुत किये गये हैं; अतः पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। काव्यलिंग का लक्षण इस प्रकार है—

'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगमुदाहृतम्' ( साहित्यदर्पण, परि० १० )

अथ सप्तभिर्मुनिं विशिनष्टि—

अब कवि सात श्लोकों से महर्षि नारद का वर्णन करते हुए प्रथमतः उन्हें शिव के साथ उपमित कर रहे हैं—

नवानधोऽधो बृहतः पयोधरान्
समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम्।
क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना
स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना ॥ ४ ॥

अन्वय—नवान्, बृहतः, पयोधरान्, अधोऽधः, समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम्, ( अतएव ) क्षणं, क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना, भूतिसितेन, शम्भुना, स्फुटोपमम् ( अमुं, नारदः, इति, अबोधि ) ॥ ४ ॥

अनुवाद—( श्रीकृष्ण ने ) नवीन तथा विशाल काले बादलों के नीचे स्थित एवं पुञ्जीभूत कपूर के चूर्ण के समान शुभ्रवर्ण; ( अतएव ) क्षणभर ताण्डवनृत्य के समय ऊपर गजचर्म आच्छादित किये हुए भस्म धारण करने से शुभ्रवर्णवाले शिवजी के साथ स्पष्ट सादृश्यवाले ( उन्हें नारद इस प्रकार समझा ) ॥ ४ ॥

सर्वङ्कषा—नवानित्यादिभिः॥ कीदृशममुम् ? नवान् सद्यःसम्भृतसलिलान् अतिनीलानिति यावत्। बृहतो विपुलान् पयोधरान् मेघान् अधोधः। मेघानां समीपाधःप्रदेशे, स्थितमिति शेषः। 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' ( पा० ८।१।७ )

इति द्विर्भावः। तद्योगे द्वितीया। 'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु' इत्यादिवचनात्। समूढः पुञ्जीकृतः। 'समूढः पुञ्जिते भुग्ने' इति विश्वः। कर्पूरस्य परागश्चूर्णं तद्वत्पाण्डुरम्। अतएव क्षणं मेघसमीपावस्थानक्षणे। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। क्षणेषु ताण्डवोत्सवेषु। 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्युभयत्राप्यमरः। उत्क्षिप्ता उपरि धारिता गजेन्द्रस्य कृत्तिश्चर्म येन तेन। 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्रीं' इत्यमरः। भूत्या भस्मना सितेन। 'भूतिर्भसित भस्मनि' इत्यमरः। शम्भुना हरेण स्फुटा उपमा सादृश्यं यस्य तं स्फुटोपमं स्फुटशम्भूपममित्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। सदृशपर्यायियोस्तुलोपमाशब्दयोः "अतुलोपमाभ्याम्" (पा० २।३।७२) इति निषेधात् सादृश्यवाचित्वे तृतीयेत्याहुः। केचिदिमं श्लोकं चयस्त्विषामित्यतः प्राग् लिखित्वा व्याचक्षते। तेषां पुंस्त्वावधारणत्प्राक् तेजःपिण्डमात्रस्य शम्भूपमौचित्यं चिन्त्यम् ॥ ४ ॥

**सारग्राहिणी**—( १ ) नवान्—नवीन। 'पयोधरान्' का विशेषण। नव, द्वि० व० व०। यहाँ नवीन से तात्पर्य वर्षाकाल के काले मेघ से है।

( २ ) बृहतः—विशाल। वृहत् शब्द, द्वि० व० व०; 'पयोधरान्' का विशेषण।

( ३ ) पयोधरान्—मेघों के। अधः के योग में द्वितीया हुई है।

( ४ ) अधः अधः—नीचे की ओर स्थित।

( ५ ) समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम्—पुञ्जीभूत कपूर के चूर्ण के समान शुभ्रवर्ण। द्वि० ए० व०। नारद के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह पूर्व श्लोक ( अर्थात् तृतीय श्लोक ) में आये हुए 'अमुम्' का विशेषण है।

इस श्लोक के सहित ७ श्लोकों में 'सः अमुं नारदः इति अबोधि' इतना अंश जोड़ लेना चाहिए। समूढ + कर्पूर + पराग + पाण्डुरम्। समूढ = सम् + √वह + क्त।

( ६ ) क्षणम्—क्षणभर।

( ७ ) क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना—ताण्डवनृत्य के समय ऊपर गजचर्म आच्छादित किये हुए। 'शम्भुना' का विशेषण है। क्षण + उत्क्षिप्त + गजेन्द्र + कृत्तिना। उत्क्षिप्त—उत् + √क्षिप् + क्त।

( ८ ) भूतिसितेन—भस्म धारण करने से शुभ्रवर्णवाले। 'शम्भुना' का विशेपण है। भूति–√भू + क्तिन् ( 'स्त्रियां क्तिन्', पा० सू० ३।३।९४ )।

( ९ ) शम्भुना स्फुटोपमम्—शिवजी के साथ स्पष्ट सादृश्यवाले। यहाँ सहार्थे तृतीया हुई है।

वल्लभदेव यहाँ 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्याम्' से तृतीया मानते हैं: वे 'अतुलोपमाभ्याम्' द्वारा उपमाशब्दयोगजन्य तृतीया विभक्ति निपेध नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार समास होने के कारण यहाँ 'उपमा' शब्द गौण हो गया है। वे—तुल्यार्थवाचक शब्द को प्रधान न होने के कारण 'तेनैकदिक्' इत्यादि ज्ञापक से यहाँ तृतीया होती है—ऐसा द्वितीय कल्प मानते हैं। वे 'सहार्थे तृतीया' यह तृतीय कल्प भी उपस्थित करते हैं।

'अमुं नारदः इति अवोधि' इतिशेषः।

व्याकरण—पयोधरान्—धरन्तीति धराः, पयसां धराः पयोधराः, तान् ( ष० तत्पु० )। 'पयोधरान् अधः अधः'—यहाँ 'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिपु त्रिपु। द्वितीयाम्रेडितान्तेपु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥' से द्वितीया हुई है।

समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम्—समूढस्य कर्पूरस्य परागः इति समूढकर्पूरपरागः तद्वत् पाण्डुरः, तम् ( उप० तत्पुरु० कर्मधा० )।

क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना—क्षणम् उत्क्षिप्ता गजेन्द्रस्य कृत्तिः येन सः तेन ( बहु० )।

भूतिसितेन—भूत्या सितः = भूतिसितः, तेन ( तृ० तत्पु० )।

कोश—'नवीनो नूतनो नवः', 'परागः कौसुमे रेणौ स्नानीयादौ रजस्यपि', 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेपोत्सवयोः क्षणः', 'अजीनं चर्म कृत्तिः स्त्री', 'भूतिर्भसित भस्मनि'—इति चामरः। 'समूढः पुञ्जिते भुग्ने'—इतिविश्वः।

अलंकार—'भूतिसितेन' आदि में अनुप्रास है। 'शम्भुना स्फुटोपमम्' में उपमा है।

अब कवि नारद की हिमालय के साथ समानता का वर्णन करते हैं—

दधानमम्भोरुहकेसरद्युती-
जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्।

विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो
धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव ॥ ५ ॥

**अन्वय**—अम्भोरुहकेसरद्युतीः जटाः, दधानम्, ( स्वयं तु ) शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्, ( अतएव ) विपाकपिङ्गाः, तुहिनस्थलीरुहो, व्रततीततीः ( दधानम् ); धराधरेन्द्रं इव (अमुं, नारदः इति, अबोधि) ।॥ ५ ॥

**अनुवाद**—( श्रीकृष्ण ने ) कमल के केसर के समान कान्तिवाली जटाओं को धारण किये हुए, शरत्कालिक चन्द्रमा की किरणों के समान कान्तिवाले ( अतएव ) पकने से पीले वर्णवाली, तुषार-भूमि पर उगनेवाली लता-पंक्तियों को धारण करनेवाले हिमालय पर्वत के सदृश (उन्हें नारद इस प्रकार समझा) ॥५॥

**सर्वङ्कषा**—दधानमिति । पुनः कीदृशम् ? अम्भोरुहकेसरद्युतीः पद्मकिञ्जल्कप्रभापिशङ्गीरित्यर्थः । जटाः दधानम्, स्वयं तु शरच्चन्द्रमरीचिरिव रोचिर्यस्य तम्, धवलमित्यर्थः । अतएव विपाकेन परिणामेन पिङ्गाः पिङ्गलाः, तुहिनस्थल्यां तुषारभूमौ रोहन्तीति तुहिनस्थलीरुहः व्रततीततीर्लताव्यूहान् "वल्ली तु व्रततिर्लता" इत्यमरः । दधानं धराधरेन्द्रो हिमवान् तुहिनस्थलीति लिङ्गान्नारदोपमानत्वाच्च तमिव स्थितम् ॥ ५ ॥

**सारग्राहिणी**—( १ ) **अम्भोरुहकेसरद्युतीः**—कमल के केसर के समान कान्तिवाली । 'जटाः' का विशेषण है । अम्भोरुह + केसर + द्युतीः । अम्भस् + रुह + क = अम्भोरुह ।

( २ ) **जटाः**—जटाओं को । जटा, स्त्री० द्वि० ब० व० ।

( ३ ) **दधानम्**—धारण किये हुए । तृतीय श्लोकोक्त 'अमुम्' का विशेषण है । √धा + शानच् ।

( ४ ) **शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्**—शरत्कालिक चन्द्रमा की किरणों के समान कान्तिवाले । शरद् + चन्द्र + मरीचि + रोचिषम् । 'अमुम्' का विशेषण ।

( ५ ) **विपाकपिङ्गाः**—पकने से पीले वर्णवाली । विपाक + पिङ्गाः । विपाक = वि + √पच् + घञ् । 'व्रततीततीः' का विशेषण है ।

( ६ ) **तुहिनस्थलीरुहः**—तुषार-भूमि पर उत्पन्न । 'व्रततीततीः का विशेषण है । यहाँ मल्लिनाथ तुहिनस्थली शब्द में किसी समास का उल्लेख नहीं करते;

वल्लभदेव इसे 'शाकप्रियः पार्थिवः = शाकपार्थिवः' के समान तुहिनयुक्तास्थली = तुहिनस्थली' ऐसा मध्यमपदलोपी समास मानते हैं।

( ७ ) व्रततीततीः ( दधानम् )—लतापंक्तियों को ( धारण करनेवाले ) व्रतती + तती, ( स्त्री० ) द्वि० व० व०।

( ८ ) धराधरेन्द्रम् इव—हिमालय के समान। हिमालय सब पर्वतों का राजा माना जाता है; अतः, उसे धराधर + ( का ) इन्द्र कहा गया है। 'धराधरेन्द्र' शब्द से यहाँ हिमालय ही क्यों लिया जावे? इसके उत्तर में मल्लिनाथ कहते हैं—'धराधरेन्द्रो हिमवान्, तुहिनस्थलीति लिङ्गान्नारदौपमानत्वाच्च' ( मल्लिनाथ की सर्वंकषा, श्लोक ५ )।

अन्त में 'अमुं नारदः इति अबोधि' इतना अंश पहले के समान जोड़ना चाहिए।

**व्याकरण**—अम्भोरुहकेसरद्युतीः—अम्भसि रोहन्ति इति अम्भोरुहाः, तेषां केसराः, तेषां द्युतिरिव द्युतिः यासां ताः ( बहु० ) शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्—शरदः चन्द्रः शरच्चन्द्रः ( ष० तत्पु० ), तस्य मरीचयः ( ष० तत्पु० ) ताः इव रोचिः यस्यः सः तम् ( बहु० )। विपाकपिङ्गाः—विपाकेन पिङ्गाः ( तृ० तत्पु० )। तुहिनस्थलीरुहः—तुहिनस्थल्यां रोहन्ति इति तुहिनस्थलीरुहः, ता ( द्वि० व० व० ) ( तत्पु० )।

**कोश**—'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्', व्रतिनस्तु सटा जटा', हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः', 'वल्ली तु व्रततिर्लता', 'किरणोऽस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः', 'भानुः करो मरीचिः'—इति च अमरः।

**अलंकार**—अम्भोरुहकेसरद्युतीः—में उपमा है। कमल के केसर के समान कान्तिवाली—ऐसा अर्थ है, यहाँ उपमित समास हुआ है।

'शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्' में भी पहले के समान उपमा ही है।

विपाकपिङ्गाः तुहिनस्थलीरुहः व्रतती ततीः दधानं धराधरेन्द्रमिव—में उपमा है। यहाँ वल्लभदेव के अनुसार उपमा में दोष है, क्योंकि उपमान हिमालय में वर्फीली भूमि में लताओं का विपाक से पीला होना उपयुक्त नहीं है। वे लिखते हैं—'हेमाधिष्ठितायां भुवि लताः पच्यन्त' इतिचिन्त्यम्—( वल्लभदेव, शिशु० व० सर्ग १, श्लोक ५ )।

अब कवि महर्षि नारद की बलरामजी के साथ समानता बतलाते हुए कहते हैं--

पिशङ्गमौञ्जीयुजमर्जुनच्छविं
वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति ।
सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां
विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम् ॥ ६ ॥

**अन्वय**—पिशङ्गमौञ्जीयुजम्, अर्जुनच्छविं, अञ्जनद्युति, एणाजिनं, वसानम्, सुवर्णसूत्राकलिताम्बरां, शितिवाससः, तनु, विडम्बयन्तम् ( अमुम्, नारदः, इति, अबोधि ) ॥ ६ ॥

**अनुवाद**—( श्रीकृष्ण ने ) पीले वर्ण की मूँजनिर्मित मेखला धारण किये हुए, अर्जुन वृक्ष सदृश शोभावाले तथा काले वर्ण के मृगचर्म को धारण किये हुए ( अतएव ) सुवर्णनिर्मित मेखला से बाँधे हुए अधोवस्त्रवाले नील वर्ण के वस्त्र को धारण करनेवाले बलराम के शरीर का अनुकरण करते हुए ( उन्हें नारद ऐसा समझा ) ॥ ६ ॥

**सर्वङ्कषा**—पिशङ्गेति ॥ पुनः कीदृशम् ? मुञ्जस्तृणविशेषः तन्मयी मेखला मौञ्जो, पिशङ्गचा मौञ्ज्या युज्यत इति पिशङ्गमौञ्जीयुक्, तम् । 'सत्सूद्विष०' ( पा० ३।२।६१ ) इत्यादिना क्विप् । "स्त्रियाः पुंवत्०" ( पा०६।३।३४) इति पिशङ्गशब्दस्य पुंवद्भावः । अर्जुनच्छविं धवलकान्तिम् । 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इत्यमरः । अञ्जनद्युति अञ्जनवर्णम् एणाजिनं कृष्णमृगचर्म वसानम् आच्छादयन्तम् । 'वस आच्छादने' इति धातोः शानच् । सुवर्णसूत्रेण कनकमेखलया आकलितं बद्धम् अधराम्बरम् अन्तरीयकं यस्यास्ताम् शितिवाससो नीलाम्बरस्य रामस्य तनुं विडम्बयन्तम्, अनुकुर्वाणमित्यर्थः । आर्थीयमुपमा ॥ ६ ॥

**सारग्राहिणी**—( १ ) पिशङ्गमौञ्जीयुजम्—पीले वर्ण की मूँजनिर्मित मेखला धारण किये हुए । पिशङ्ग+मौञ्जी+युजम् । मौञ्जी = √मुञ्ज् + अञ्+ ङीप् । 'अमुम्' का विशेषण ।

( २ ) अर्जुनच्छविम्—अर्जुन वृक्ष सदृश शोभावाले । अर्जुन वृक्ष श्वेत होता है । नारदजी भी गौरवर्ण हैं, अतः उन्हें अर्जुन वृक्ष की शोभा के समान

शोभावाला बतलाया गया है। अर्जुन + छविम्; यहाँ 'छे च' से तुक् आगम होने से, इन दोनों शब्दों के बीच 'च' दीख रहा है। 'अर्जुन' शब्द का अर्थ 'श्वेत' करने पर 'श्वेत कान्तिवाले' ऐसा हो सकता है।

( ३ ) अञ्जनद्युति—काले वर्ण के। 'एणाजिनम्' का विशेषण है। अञ्जन काला होता है; अतः, मृगचर्म को काला होने से उसकी उपमा दी गयी है।

( ४ ) एणाजिनम्—मृगचर्म को। धारण-क्रिया का कर्म। एण+अजिनम्।

( ५ ) वसानम्—धारण किये हुए। 'अमुम्' का विशेषण है। √वस्+शानच्, द्वि० ए० व०।

( ६ ) सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बराम्—सुवर्णनिर्मित मेखला से बाँधे हुए अधोवस्त्रवाले। 'तनुम्' का विशेषण है। सुवर्ण + सूत्र + आकलित + अधर + अम्बराम्। स्त्री० द्वि० ए० व०।

( ७ ) शितिवाससः—बलराम के ष० ए० व०। शिति = नीले रंग के। वासस् = कपड़ा। नीले वस्त्र को धारण करनेवाले के अर्थात् बलराम के। श्रीकृष्ण को 'पीताम्बर' तथा बलराम को 'नीलाम्बर' कहा जाता है।

( ८ ) तनुम्—शरीर का। स्त्री० द्वि० ए० व०। यहाँ द्वितीया होने पर भी 'विडम्बयन्तम्' के अनुरूप षष्ठी का अर्थ लिया गया है। विडम्बन क्रिया का कर्म 'तनु' होने से उसे द्वितीया हुई है।

( ९ ) विडम्बयन्तम्—अनुकरण करते हुए। 'अमुम्' का विशेषण है। वि + √डम्ब + णिच् + शतृ = विडम्बयन्, द्वि० ए० व० = विडम्बयन्तम्।

व्याकरण—पिशङ्गमौञ्जीयुजम्—पिशङ्गया मौञ्ज्या युज्यते इति पिशङ्गमौञ्जीयुक्, तम् पिशङ्गमौञ्जीयुजम् ( तत्पु० ); पिशङ्गमौञ्जी + युज् + क्विप् = पिशङ्गमौञ्जीयुज्। पिशङ्गाचासौ मौञ्जी च = पिशङ्गमौञ्जी; यहाँ पिशङ्गा को 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्' इत्यादि से पुंवद्भाव हुआ है।

अर्जुनच्छविम्—अर्जुनस्य छविः इव छविः यस्य सः = अर्जुनच्छविः, तम् ( बहु० )।

अञ्जनद्युति—अञ्जनस्य द्युतिः इव द्युतिः यस्य तत् ( बहु० )।

सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बराम्—सुवर्णस्य सूत्रं सुवर्णसूत्रम्, सुवर्णसूत्रेण आकलितम् अधरम् अम्बरं यस्याः सा ताम् ( बहु० )। आकलित = आ + √कल + इ + क्त।

कोश—'शिती धवलमेचकौ', 'पिशङ्गे कद्रुपिङ्गलौ', 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः', 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री', 'गोकर्णपृषतैणश्यं रोहिताः', 'स्वर्णं सुवर्णं कनकम्'—इति च अमरः।

अलंकार—अर्जुनच्छविम्—अर्जुन वृक्ष के समान कान्तिवाले—उपमा है।

अञ्जनद्युति—अञ्जन के समान कान्तिवाले—उपमा है।

शितिवाससः तनुं विडम्बयन्तम्—उपमा है।

अब कवि महर्षि नारद को शरत्कालिक मेघ के साथ समानता बतलाते हुए कहते हैं—

विहङ्गराजाङ्गरुहैरिवायतै-
हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः।
कृतोपवीतं हिमशुभ्रमुच्चकै-
र्घनं घनान्ते तडितां गणैरिव ॥ ७ ॥

अन्वय—विहङ्गराजाङ्गरुहैः, इव, आयतैः, हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः, कृतोपवीतं, (स्वयं) हिमशुभ्रं, (अतएव) घनान्ते, तडितां, गणैः, उच्चकैः, घनं, इव (अमुं, नारदः, इति, अबोधि) ॥ ७ ॥

अनुवाद—(श्रीकृष्ण ने) गरुड़ के रोओं के समान लम्बे, स्वर्णमय भूमि में उत्पन्न लतारूपी सूत्रों से निर्मित यज्ञोपवीत धारण किये हुए तथा हिम के समान शुभ्रवर्ण, (अतएव) शरत्काल में विद्युत्समूहों से युक्त उन्नत मेघ के समान (उन्हें नारद इस प्रकार समझा) ॥ ७ ॥

सर्वङ्कषा—विहङ्गेति ॥ पुनः विहङ्गराजाङ्गरुहैरिव गरुत्मल्लोमतुल्यैः, आयतैः दीर्घैः। हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयी। 'दाण्डिनायन०—' (पा० ६।४।१७४) इत्यादिना मयटि यलोपः निपातितः। तस्याम् उर्व्यां रुहा रूढाः। इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः। तासां वल्लीनां तन्तुभिः तत्तुल्यैः सूक्ष्मावयवैः। उपादानगुणात् हिरण्मयैः कृतोपवीतं शोभार्थं कल्पितयज्ञसूत्रं स्वयं हिमशुभ्रम्। अतएव घनान्ते शरदि तडितां गणैरुपलक्षितम्। 'तडित्सौदामिनी विद्युत्' इत्यमरः। उच्चैरेव उच्चकैः घनं मेघमिव स्थितम् ॥ ७ ॥

सारग्राहणी—(१) विहङ्गराजाङ्गरुहैः इव—पक्षिराज अर्थात् गरुड़ के रोओं के समान। विहङ्ग+राजन्+अङ्ग+रुह, तृ० ब० व०। वल्लभदेव

सारग्राहिणी--( १ ) निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा--स्वभाव से ही चितकबरे एवं उज्ज्वल सूक्ष्म रोमवाले। 'चारुचमूरुचर्मणा' का विशेषण है। निसर्ग + चित्र + उज्ज्वल + सूक्ष्म + पक्ष्मन्, तृ० ए० व०।

( २ ) लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना—शोभन कमलतन्तु के खण्ड के समान शुभ्र अङ्ग से युक्त। 'चारुचमूरुचर्मणा' का विशेषण है। लसद् + बिस + छेद + सित + अङ्ग + सङ्गिन्, तृ० ए० व०।

( ३ ) चारुचमूरुचर्मणा--मनोहर मृगचर्म से। चारु + चमूरु + चर्मन्, तृ० ए० व०।

( ४ ) चकासतम्—शोभित होनेवाले। 'अमुम्' ( श्लो० ३ के ) का विशेषण है। √चकासृ + शतृ = चकासत् द्वि० ए० व०। अतएव,

( ५ ) कुथेन—पृष्ठास्तरण से युक्त। उपलक्षण में तृतीया होने से उपलक्षित = युक्त अर्थ लिया गया है। कुथ पुं० तृ० ए० व०।

( ६ ) इन्द्रवाहनम्—इन्द्र के वाहनभूत।

( ७ ) नागेन्द्रम् इव--गजश्रेष्ठ अर्थात् ऐरावत हाथी के समान। नाग + इन्द्र ( पुं० ) द्वि० ए० व०।

अमुं नारदः इति अबोधि।

व्याकरण—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा—निसर्गेण चित्राणि उज्ज्वलानि सूक्ष्माणि च पक्ष्माणि यस्य सः तेन ( बहु० )।

लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना—लसन् यो बिसच्छेदः तद्वत् सिते अङ्गे सङ्गिना ( कर्मधा० )।

चारुचमूरुचर्मणा—चमूरोः चर्म चमूरुचर्म, चारु च तत् चमूरुचर्म च इति चारुचमूरुचर्म तेन ( तत्पु० )।

कोश—'स्वभावश्च निसर्गश्च', 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे', छेदः खण्डोऽस्त्रियाम्', 'मृणालं बिसम्', 'समूराश्च चमूराश्च मृगा अजिनयोनयः', 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री', 'प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः', इन्द्रो मरुत्वान् मघवा'—इति च अमरः।

अलंकार—लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना—में उपमा अलंकार है। इन्द्रवाहनं नागेन्द्रमिव में भी उपमा है।

कवि महर्षि नारद के हाथ में स्थित स्फटिकमणि की माला में विद्रुममाला की उत्प्रेक्षा कर रहा है—

अजस्रमास्फालितवल्लकीगुण-
क्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया ।
पुरः प्रवालैरिव पूरितार्धया
विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया ॥९॥

अन्वय—अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया, (अतएव) पुरः, प्रवालैः, पूरितार्धया, इव, अच्छस्फटिकाक्षमालया, विभान्तम् (अमुं, नारदः, इति, अवोधि) ॥ ९ ॥

अनुवाद—( श्रीकृष्ण ने ) निरन्तर बजायी गयी वीणा के तारों से संघर्षण होने से प्रदीप्त अँगूठे के नख-किरण से मिश्रित हुई ( अतएव ) मानो आगे की ओर मूँगों से पूरे गये अर्ध भागवाली निर्मल स्फटिकमणिनिर्मित जपमाला से शोभित होते हुए ( उन्हें नारद इस प्रकार समझा ) ॥ ९ ॥

सर्वङ्कषा—अजस्रमिति ॥ पुनः अजस्रं प्राचुर्येण आस्फालिताः ताडिताः। सौष्ठवपरीक्षार्थं न्युब्जाङ्गुष्ठेन तन्त्रीताडनं प्रसिद्धम्। तेषां वल्लकीगुणानां वीणातन्त्रीणां क्षतेन सङ्घर्षणेन उज्ज्वलैः अङ्गुष्ठनखांशुभिर्भिन्नया मिश्रया, तद्रागरक्तयेत्यर्थः। अत एव पुरः पुरोभागे प्रवालैर्विद्रुमैः। 'अथ विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः। पूरितार्धया इव स्थितया अच्छस्फटिकाक्षमालया स्वच्छस्फटिकानां मालया, जपमालयेत्यर्थः। 'अच्छो भल्लूके स्फटिकेऽमलेऽच्छाभिमुखेऽव्ययम्' इति हेमचन्द्रः। तथा प्रसिद्धस्फटिकग्रहणाद् ऋषेर्मोक्षार्थित्वं व्यज्यते। 'स्फटिको मोक्षदः परम्' इति मोक्षार्थिनां स्फटिकमालाभिधानात्। विभान्तं भासमानम्। भातेः शतृप्रत्ययः। 'अत्र नखांशुभिन्नया' इति स्वगुणत्यागेन अन्यगुणस्वीकारलक्षणः तद्गुणालङ्कारः। तद्गुणः स्वगुणत्यागात्' । इति ॥ ९ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) अजस्रम्—निरन्तर। नञ् ( अ ) + √जस् + र। अव्यय, नपुं० प्र० ए० व०।



( २ ) आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया—बजायी गयी वीणा के तारों से सङ्घर्षण होने से प्रदीप्त अँगूठे के नख-किरण से मिश्रित हुई।

'अच्छस्फटिकाक्षमालया' का विशेषण है। आस्फालित + वल्लकी + गुण + क्षत + उज्ज्वल + अङ्गुष्ठ + नख + अंशु + भिन्ना, तृ० ए० व०। आस्फालित = आ + √स्फाल + इ + क्त। भिन्ना = √भिदिर + क्त + टाप्। अतएव,

( ३ ) पुरः—आगे की ओर। अव्यय।

( ४ ) प्रवालैः पूरितार्धया—मानो मूँगों से पूरे गये अर्ध भागवाली। पूरित + अर्धया।

( ५ ) अच्छस्फटिकाक्षमालया—निर्मल स्फटिकमणि निर्मित जपमाला से। अच्छ + स्फटिक + अक्षमाला, तृ० ए० व०।

( ६ ) विभ्रान्तम्—शोभित होते हुए। 'अमुम्' का विशेषण। वि + √भा + शतृ ( द्वि० ए० व० )। अमुं नारदः इति अवोधि।

व्याकरण—आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया -- आस्फालिताः ये वल्लकीगुणाः तेषां क्षतेन उज्ज्वलं यत् अङ्गुष्ठनखं तस्य अंशुभिः भिन्नया ( तत्पु० )।

अच्छस्फटिकाक्षमालया—अच्छाश्च ते स्फटिकाश्च = अच्छस्फटिकाः, तेषां या अक्षमाला तया ( तत्पु० )।

पूरितार्धया—पूरितं अर्धं यस्याः सा तया ( बहु० )।

कोशः—'वीणा तु वल्लकी', 'किरणोस्त्र मयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः', 'अथ विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्', नित्यानवरताजस्रम्'—इति च अमरः।

अलंकार—प्रवालैः पूरितार्धया इव—उत्प्रेक्षा ( वस्तूत्प्रेक्षा )।

जपमाला अपने श्वेतगुण को त्यागकर नखकिरणों के लालिमा को ले रही है। अतः, यहाँ तद्गुण अलंकार है; यह तद्गुण पूर्वोक्त उत्प्रेक्षा का अंग है। अतः, यहाँ 'अङ्गाङ्गिभाव' संकर है।

अव कवि महती नामक अपनी वीणा को देखते हुए नारद का वर्णन कर रहा है—

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः
पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छना-
मवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः॥ १०॥

**अन्वयः**—नभस्वतः, आघट्टनया, पृथक्, रणद्भिः, विभिन्नश्रुतिमण्डलैः, स्वरैः, स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनां, महतीं, मुहुः मुहुः, अवेक्षमाणं ( अमुं, नारदः, इति, अवोधि ) ॥ १० ॥

**अनुवाद**—( श्रीकृष्ण ने ) पवन के आघात से पृथक्-पृथक् रूप से ध्वनित होनेवाले श्रुतियों के समूह एवं 'सा रे ग म प ध नि' इन सप्तस्वरों से स्पष्ट होनेवाले ग्राम तथा मूर्छनावाली महती नामक वीणा को बार-बार देखते हुए ( उन्हें नारद इस प्रकार समझा ) ॥ १० ॥

**सर्वाङ्कषा**—रणद्भिरिति ॥ पुनः नभस्वतो वायोः आघट्टनया आघातेन पृथग् असङ्कीर्णं रणद्भिर्ध्वनद्भिः, अणुरणनोत्पद्यमानैरित्यर्थः । 'श्रुत्यारब्धमनुरणनं स्वरः' इति लक्षणात् । तदुक्तं रत्नाकरे—'श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः । स्वनो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते ॥' इति । श्रुतिर्नाम स्वरारम्भकावयवः शब्दविशेषः । तदुक्तम्—"प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः । सा श्रुतिः सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा ॥" इति । विभिन्नानि प्रतिनियतसंख्यया व्यवस्थितानि श्रुतीनां मण्डलानि समूहा येषां तैः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः । श्रुतिसंख्यानियमश्च दर्शितः—'चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः । द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्री रिषभधैवतौ' ॥ स्वराः षड्जादयः सप्त उक्तलक्षणाः । तदुक्तम्—'श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः । पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते । संज्ञा सरिगमपधनीत्यपरा मता ॥" इति । तैः स्वरैः स्फुटीभवन्त्यो ग्रामविशेषाणां षड्जाद्यपरनामकानां स्वरसंघातभेदानां त्रयाणां मूर्च्छनाः स्वरारोहावरोहक्रमभेदा यस्यां तां महतीं ( महतीनाम्नीं ) निजवीणाम् । 'विश्वावसोस्तु बृहती तुम्बुरोस्तु कलावती । महती नारदस्य स्यात् सरस्वत्यास्तु कच्छपी ॥' इति वैजयन्ती । मुहुर्मुहुः अवेक्षमाणम्, तन्त्रीयोजनाभेदलक्षणमहिम्ना पुरुषप्रयत्नमन्तरेणैव अविसम्वादं ध्वनतीति कौतुकादनुसंदधानमित्यर्थः । अथ ग्रामलक्षणम्—'यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि । तथा स्वराणां सन्दोहो ग्राम इत्यभिधीयते ॥ षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च । गान्धारग्राम इत्येतद्ग्रामत्रयमुदाहृतम् ॥' इति । तथा च—'नन्द्यावर्तोऽथ जीमूतः सुभद्रो ग्रामकास्त्रयः । षड्जमध्यमगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः ॥' इति । मूर्च्छनालक्षणं च—'क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् । सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च ॥' ग्रामत्रये प्रत्येकं सप्त सप्त मूर्च्छना इत्येकविंशतिमूर्च्छना भवन्ति । तत्र नामानि तु 'ना

पेक्षितमुच्यते' इति प्रतिज्ञाभंगभयान्न लिख्यन्त इति सर्वमवदातम् । अत्र पुंव्यापार-मन्तरेण स्वराद्याविर्भावोक्त्या कोऽपि लोकातिक्रान्तोऽयं शिल्पसौष्ठवातिशयो वीणायाः प्रतीयते । तेन सह स्वतः प्रसिद्धातिशयस्याभेदेनाध्यवसितत्वात्तन्मूलाति-शयोक्तिरलंकारः सा च महत्याः पुंव्यापारं विना मूर्च्छाद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धा-भिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपतया पुंव्यापाराख्यरूपकारणं विनापि मूर्छनादिकार्यो-त्पत्तिद्योतनाद्विभावना व्यज्यत इत्यलंकारेणालंकारध्वनिरिति संक्षेपः ॥ १० ॥

सारग्राहिणी—( १ ) नभस्वतः—पवन के । नभस् + मतुप्, नभस्वत्, ष० ए० व० ।

( २ ) आघट्टनया—आघात से । आ + √घट्ट + णिच् + युच् + टाप् = आघट्टना ( स्त्री० ), तृ० ए० व० ।

( ३ ) पृथक्—पृथक्-पृथक् रूप से ।

( ४ ) रणद्भिः—ध्वनित होनेवाले । रणत्, तृ० ब० व० । 'स्वरैः' का विशेषण है । √रण + शतृ = रणत् ।

( ५ ) विभिन्नश्रुतिमण्डलैः—प्रतिनियतसंख्या से व्यवस्थिति सप्त श्रुति-समूहोंवाले । 'स्वरैः' का विशेषण है । विभिन्न + श्रुति + मण्डल, तृ० ब० व० । वि + √भिदिर + क्त = विभिन्न ।

मल्लिनाथ के अनुसार ऐसे स्वर जिनमें श्रुतिसमूह अलग-अलग संख्या में विभाजित हैं ।

वल्लभदेव के अनुसार जिनका श्रुतिमण्डल प्रत्येक ग्राम में अलग-अलग व्यवस्थित है ।

( ६ ) स्वरैः—स्वरों में ।

( ७ ) स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनाम्—स्पष्ट होनेवाले ग्राम तथा मूर्च्छना-वाली । 'महतीम्' का विशेषण है । स्फुटीभवत् + ग्रामविशेष + मूर्च्छना, द्वि० ए० व० । √स्फुट + च्वि + भू + शतृ = स्फुटीभवत् ।

( ८ ) महतीम्—महती नामवाली अपनी वीणा को । अवेक्षण-क्रिया का कर्म है ।

( ९ ) मुहुर्मुहुः अवेक्षमाणम्—बार-बार देखते हुए । 'अमुम्' का विशेषण है । 'मुहुर्मुहुः' अव्यय है । अवेक्षमाणम्—अव + √ईक्ष + शानच् = अवेक्षमाण, द्वि० ए० व० ।

अमुं नारदः इति अबोधि ।

**व्याकरण**—विभिन्नश्रुतिमण्डलैः—विभिन्नानि श्रुतीनां मण्डलानि येषां तैः ( बहु० ) ।

स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनाम्-स्फुटीभवन्त्यः ग्रामविशेषाणां मूर्च्छनाः यस्यां सा ताम् ( बहु० ) ।

**कोश** - 'नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः', 'मुहुः पुनः पुनः शश्वत्'—इति च अमरः ।

**अलङ्कार**—पवन के आघात से वीणा में स्वर आदि का उद्भव वर्णित होने से यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति है ।

**विशेष**—शास्त्रीयसंगीत में सात स्वर, तीन ग्राम तथा २१ मूर्च्छनाएँ होती हैं 'सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामाः मूर्च्छनाश्चैकविंशतिः ।'

संगीत-रत्नाकर नामक ग्रन्थ के अनुसार स्वर, ग्राम तथा मूर्च्छना का लक्षण इस प्रकार है—

'श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ।
स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते ॥'
'श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः ।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते ।
तेषां संज्ञा स रि ग म प ध नीत्यपरा मता ॥'
'यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि ।
तथा स्वराणां सन्दोहो 'ग्राम' इत्यभिधीयते ॥
षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च ।
गान्धार ग्राम इत्येतद् ग्रामत्रयमुदाहृतम् ॥'
'क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।
(सा) मूर्च्छनेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च ॥'
[ संगीत-रत्नाकर ]

महर्षि नारद की वीणा का नाम महती है, ऐसा वैजयन्ती-कोश से विदित होता है—

'विश्वावसोस्तु बृहती तुम्बुरोस्तु कलावती ।
महती नारदस्य स्यात् सरस्वत्यास्तु कच्छपी ॥'

अव कवि अनुगामी देवों को लौटाकर नारद के द्वारका-आगमन का वर्णन करता है—

निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानती-
नतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभः सदः ।
समासदत् सादितदैत्यसम्पदः
पदं महेन्द्रालयचारु चक्रिणः ॥ ११ ॥

अन्वय—अतीन्द्रियज्ञाननिधिः, सः, कृतानतीन्, अनुव्रजतः, नभःसदः, निवर्त्य, सादितदैत्यसम्पदः, चक्रिणः, महेन्द्रालयचारु, पदं, समासदत् ॥ ११ ॥

अनुवाद—अतीन्द्रिय ज्ञान के निधि वे नारदजी प्रणाम करनेवाले तथा पीछे-पीछे आनेवाले ( गगनचारी ) देवों को लौटाकर दैत्यों की सम्पत्तियों को नष्ट करनेवाले श्रीकृष्ण के इन्द्रभवनसदृश सुन्दर स्थान ( भवन ) को प्राप्त हुए ॥ ११ ॥

सर्वङ्कषा—निवर्त्येति ॥ अतीन्द्रिया इन्द्रियमतिक्रान्ता देशकालस्वरूपाद्वि-प्रकृष्टार्थाः । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । 'द्विगुप्राप्तापन्नालं-पूर्वगतिसमासेषु परलिंगताप्रतिषेधो वक्तव्यः' ( वार्तिक ) इति विशेष्यलिंगत्वम् । तेषां ज्ञानं तस्य निधिः, सर्वार्थद्रष्टेत्यर्थः । कृतानतीन् कृतप्रणामान् अनुव्रजतः अनुगच्छतः, नभसि आकाशे सीदन्ति गच्छन्ति इति नभःसदः सुरान् । 'सत्सूद्विष०' ( पा० ३।२।६१ ) इत्यादिना क्विप् । निवर्त्य प्रतिषिध्य स मुनिः सादितदैत्य-सम्पदः सादिताः विध्वस्तीकृताः दैत्यानां सम्पदो येन तस्य चक्रिणः कृष्णस्य पदं स्थानं महेन्द्रालयचारु इन्द्रभवनमिव भासमानं समासदत् । समाङ्पूर्वात् पद्लृधा-तोर्लुङ् । 'पुषादि०' ( पा० ३।१।५५ ) इत्यङ् । अत्र 'नतीनती, पदः पदम्' इति च द्वयोः व्यञ्जनयुग्मयोः असकृदावृत्त्या छेकानुप्रासः । अन्यत्र वृत्त्यानुप्रास इत्यनयोः संसृष्टिः ॥ ११ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) अतीन्द्रियज्ञाननिधिः सः—अतीन्द्रिय ज्ञान के निधि वे नारदजी । अतीन्द्रिय + ज्ञान + निधि । सः 'समासदत्'—क्रिया का कर्त्ता ।

( २ ) कृतानतीन्—प्रणाम करनेवाले । 'नभःसदः' का विशेषण है । कृत + आनति पुं०; द्वि० ब० व० । आनति = आ + नम् + क्तिन् ।

( ३ ) अनुव्रजतः—अनुसरण करनेवाले, पीछे-पीछे आनेवाले। अनु + √व्रज + शतृ, द्वि० ब० व०। 'नभःसदः' का विशेषण है।

( ४ ) नभःसदः—गगनचारी देवों को। निवर्तन क्रिया का कर्म है। नभस् + √सद् + क्विप्, पुं० द्वि० ब० व०।

( ५ ) निवर्त्य—लौटाकर। नि + √वृत + णिच् + ल्यप्।

( ६ ) सादितदैत्यसम्पदः—दैत्यों की सम्पत्तियों को नष्ट करनेवाले। सादित + दैत्य + सम्पद्, ष० ए० व०। 'चक्रिण' का विशेषण है। सादिता √पद्लृ + णिच् + क्त + टाप्।

( ७ ) चक्रिणः—चतुर्भुज नारायण के रूप में चक्र धारण करनेवाले अर्थात् श्रीकृष्ण के। 'चक्रम् अस्य अस्ति' इस अर्थ में चक्र + इनि = चक्रिन्, पुं० ष० ए० व०।

( ८ ) महेन्द्रालयचारु—इन्द्रभवनसदृश सुन्दर। महेन्द्र + आलय + चारु। 'पदम्' का विशेषण।

( ९ ) पदम्—स्थान को। 'समासदत्' का कर्म है।

( १० ) समासदत्—प्राप्त हुए। सम् + आ + √सद् + लुङ् ( प्र० पु० ए० व० )।

**व्याकरण**—अतीन्द्रियज्ञाननिधिः—इन्द्रियम् अतिक्रान्ताः अतीन्द्रियाः ( पदार्थाः ), अतीन्द्रियाणां ज्ञानं = अतीन्द्रियज्ञानम्, तस्य निधिः ( तत्पु० )।

कृतानतीन्—कृताः आनतयः यैः ते तान् ( बहु० )।

सादितदैत्यसम्पदः—सादिताः दैत्यानां सम्पदः येन सः तस्य ( बहु० )।

महेन्द्रालयचारु—महान् च असौ इन्द्रः = महेन्द्रः, महेन्द्रस्य आलयः महेन्द्रालयः स इव चारु तत् ( तत्पु० )।

**कोश**—'निधिर्नाशेवधिः', 'अथ सम्पदि सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च', 'असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः', 'निकाय्यनिलयालयाः' इति च अमरः। 'पदे शब्दे च वाक्ये च व्यवसायापदेशयोः। पादतच्चिह्नयोः स्थानत्राणयोरङ्कवस्तुनोः' इति विश्वः।

**अलंकार**—नती, नती ( पूर्वार्द्ध में ) यमक और 'पदः पदं' ( उत्तरार्द्ध में ) ऐसी आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है।

अब कवि श्रीकृष्णकृत नारद-स्वागत का प्रकार वर्णन करते हुए कहते हैं--

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः,
पुरोऽस्ययावन्न भुवि व्यलीयत ।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकै
र्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ।। १२ ।।

**अन्वय**—पतत्पतंगप्रतिमः, तपोनिधिः, अस्य, पुरः, भुवि, यावत्, न, व्यलीयत, तावत्, अच्युतः, गिरेः, तडित्वान्, इव, उच्चकैः, पीठात्, जवेन, उदतिष्ठत् ।। १२ ।।

**अनुवाद**—आकाश से उतरते हुए सूर्य के समान देदीप्यमान तपोनिधि नारदजी इन श्रीकृष्ण के सामने भूमि पर जब तक टिक भी नहीं पाये, तब तक श्रीकृष्ण पर्वत से विद्युद्युक्त मेघ के समान उन्नत सिंहासन से वेग से (शीघ्र ही) उठ खड़े हुए ।। १२ ।।

**सर्वङ्कषा**—पतदिति ।। पतन् यः पतंगः स प्रतिमा उपमानं यस्य सः । 'पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च' इत्यमरः । तपोनिधिर्मुनिः अस्य हरेः पुरो भुवि पुरःप्रदेशे यावत् न व्यलीयत नातिष्ठत् । 'लीङ्गतौ' इति धातोर्दैवादिकात् कर्तरि लङ् । 'तावद् अच्युतो हरिः गिरेः शलात्' । तडितोऽस्य सन्तीति तडित्वान् मेघ इव' । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' ( पा० ८।२।९ ) इति मतुपो मकारस्य वकारः । 'तसौ मत्वर्थे' ( पा० १।४।१९ ) इति भसंज्ञायाम् एकसंज्ञाधिकारेणापदत्वान्न जश्त्वम् । उच्चकैः उन्नतात् पीठात् आसनात् जवेन उदतिष्ठत् । मुनिचरणस्य भूस्पर्शाद् प्रागेव स्वयमुत्थितवान् । 'ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति । प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ।।' इति शास्त्रमनुस्मरन्निति भावः । उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' ( पा० १।३।२४ ) इति नियमाद् इह ऊर्ध्वकर्मणि नात्मनेपदम् । पतत्पतङ्ग इत्यत्र पतङ्गस्य पतनासम्भवादियमभूतोपमा इत्याचार्यदण्डिप्रभृतयो बभणुः । अत एव अप्रसिद्धस्य उपमानत्वायोगदुत्प्रेक्षेति आधुनिकालङ्कारिकाः सर्वे वर्णयन्ति ।। १२ ।।

**सारग्राहिणी**—( १ ) पतत्पतङ्गप्रतिमः—( आकाश से ) उतरते हुए सूर्य के समान । 'तपोनिधिः' का विशेषण है । पतत् + पतङ्ग + प्रतिम, प्र० ए० व० । पतत्=√पत्+शतृ ।

( २ ) तपोनिधिः—तपश्चर्या के भण्डार। नारदजी से तात्पर्य है। 'विलीन' क्रिया का कर्ता है।

( ३ ) अस्य पुरः—इन श्रीकृष्ण के सामने 'पुरः' अव्यय है।

( ४ ) भुवि—भूमि पर। 'भू' स० ए० व०।

( ५ ) यावत्—जब तक। यद् + डवतु। यावत् तथा तावत् दोनों शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं तथा सम्बद्ध क्रिया को समकालिकता का बोध कराते हैं।

( ६ ) न व्यलीयत—टिक भी नहीं पाये। अर्थात् आकर ठहर भी नहीं सके। वि + √ली + लङ्, प्र० पुं० ए० व०।

( ७ ) तावत्—तब तक। तद् + डवतु = तावत्।

( ८ ) अच्युतः—श्रीकृष्ण। उत्थान-क्रिया का कर्ता।

( ९ ) गिरेः तडित्वान् इव—पर्वत से विद्युद्युक्त मेघ के समान—गिरि, पं० ए० व०। तडित्वान् = तडित् + मतुप्, तडित्वन्, प्र० ए० व०।

( १० ) उच्चकैः पीठात्—उन्नत सिंहासन से। 'पीठ' पं० ए० व०। 'उच्चकैः' पीठ का विशेषण है। अव्यय होने से यहाँ विभक्ति आने पर भी उसका 'अव्ययादाप्सुपः' से लोप होता है; अतः 'उच्चकैः' इतना ही अवशिष्ट रहता है; अव्यय का लक्षण है—

'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥'

( ११ ) जवेन—वेग से अर्थात् शीघ्रता से।

( १२ ) उदतिष्ठत् —उठ खड़े हुए। उत् + √स्था + लङ् (प्र०पु०ए०व०)।

व्याकरण—पतत्पतङ्गप्रतिमः—पतन् यः पतङ्गः सः प्रतिमा यस्य सः ( बहु० )।

तपोनिधिः—तपसां निधिः (षष्ठी तत्पु०)। अच्युतः—न च्युतः (नञ् तत्पु०) योगरूढ़ शब्द है। तडित्वान्—तडितः सन्ति अस्य इति ( बहु० )।

कोश—'पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च', 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे', 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः', 'विष्टरः पीठमस्त्रियाम्', 'धाराधरो जलधरस्तडित्वान् वारिदोऽम्बुभृत्', 'पीताम्बरोऽच्युतः शार्ङ्गी विष्वक्सेनो जनार्दनः', भूभृन्महीध्रश्चलानन्ता—इति च अमरः।

अलङ्कार—'पतत्पतङ्गप्रतिमः' यहाँ सूर्य का नीचे उतरना असम्भव होने से आचार्य दण्डी आदि आलङ्कारिक अभूतोपमा मानते हैं, इसीलिए मल्लिनाथ भी यहाँ उपमा मानते हैं, किन्तु आधुनिक आलङ्कारिक इसे अप्रसिद्ध वस्तु ( नीचे उतरता सूर्य ) को उपमान बनाने से उत्प्रेक्षा मानते हैं।

वल्लभदेव यहाँ 'पतन् पतङ्गप्रतिमः' ऐसा पाठ मानते हैं; अतः, उनके यहाँ मतभेद का अवसर ही नहीं है; अपितु शुद्ध रूप से उपमा अलङ्कार है।

अब कवि महर्षि नारद द्वारा भूतल पर पदार्पण का वर्णन करता है—

अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणै-
धृते कथञ्चित्फणिनां गणैरधः ।
न्यधायिषातामभिदेवकीसुतं
सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले ॥ १३ ॥

**अन्वय**—अथ, धातुः, सुतेन, प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः, फणिनां गणैः, अधः, कथञ्चिद्, धृते, भुवस्तले, अभिदेवकीसुतं, चरणौ, न्यधायिषाताम् ॥ १३ ॥

**अनुवाद**—श्रीकृष्ण के उठ खड़े होने के बाद ब्रह्मदेव के मानसपुत्र महर्षि नारद द्वारा बड़े यत्न से ऊपर उठाने पर भी ( भार से ) झुके हुए फणोंवाले सर्पों के समूहों द्वारा नीचे की ओर से किसी प्रकार धारण किये हुए भूमितल पर श्रीकृष्ण के सामने ( अपने ) पैर रक्खे गये ॥ १३ ॥

**सर्वङ्कषा**—अथेति ॥ अथाच्युताभ्युत्थानानन्तरं धातुः सुतेन नारदेन प्रयत्नोन्नमिताः तथापि मुनिपादन्यासभाराद् आनमन्त्यः फणाः येषां तैः फणिनां गणैः अधः अधःप्रदेशे कथञ्चिद् धृते स्थापिते भुवस्तले भूपृष्ठे। अभिदेवकीसुतं देवकीसुतमभि, लक्ष्यीकृत्येत्यर्थः। 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' ( पा० २।१।१४ ) इत्यव्ययीभावः। चरणौ पादौ। 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। न्यधायिषातां निहितौ। दधातेः कर्मणि लुङ्। 'स्यसिच्सी०' ( पा० ६।४।६२ ) इत्यादिना चिण्वदिटि युक्। अत्र फणानां नमनोन्नमनासम्बन्धेऽपि मुनिगौरवाय तत्सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिभेदः ॥ १३ ॥

**सारग्राहिणी**—( १ ) अथ—इसके बाद; अर्थात् श्रीकृष्ण के उठ खड़े होने के बाद। अव्यय है।

( २ ) धातुः सुतेन—ब्रह्मदेव के मानसपुत्र महर्षि नारद द्वारा। निधान क्रिया का कर्ता है। कर्मणि प्रयोग होने से यहाँ कर्ता को तृतीया हुई है।

( ३ ) प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः—बड़े यत्न से ऊपर उठाने पर भी (भार से) झुके हुए फणोंवाले। प्र + यत्न + उन्नमित + आनमत् + फणा = फण, तृ० ब० व०। 'फणिनां गणैः' का विशेषण है।

( ४ ) फणिनां गणैः—सर्पों के समूहों द्वारा। 'फणा अस्य अस्ति' इस अर्थ में फणा + इनि = फणिन्, ष० ब० व०।

( ५ ) अधः—नीचे की ओर। 'अव्यय' है।

( ६ ) कथञ्चित् धृते – किसी प्रकार अर्थात् बड़ी कठिनाई से धारण किये हुए। धृत = √धृञ् + क्त, स० ए० व०।

( ७ ) भुवस्तले—भूमितल पर। 'अधिकरण' ( औपश्लेषिक-वैषयिक-अभिव्यापक, ऐसा त्रिविध अधिकरण होता है; यहाँ औपश्लेषिक-संयोगसम्बन्ध से सिद्ध ) में सप्तमी।

( ८ ) अभिदेवकीसुतम्—श्रीकृष्ण के सामने। अभि = कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से द्वितीया हुई। समस्तपद है। 'समास' इसी श्लोक के 'व्याकरण' में देखिये।

( ९ ) चरणौ—पैर अर्थात् अपने पैर। 'निधान' क्रिया का कर्म है। कर्मणि प्रयोग होने से कर्म को प्रथमा हुई है।

( १० ) न्यधायिषाताम्—रक्खे गये। नि + √धा + लुङ् ( प्र० पु० द्वि० व० )। कर्मवाक्य।

व्याकरण—प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः, प्रकृष्टः यत्नः = प्रयत्नः, प्रयत्नेन उन्नमिताः ( तथापि ) आनमन्त्यः फणाः येषान्ते तैः ( बहु० )।

अभिदेवकीसुतम्—देवकीसुतम् अभि (अव्ययीभाव)।

कोश—'फणः फणा फटा प्रोक्ता' इति हलायुधः। 'मङ्गलानन्तरारम्भ प्रश्न कात्स्न्यैष्वथो अथ', 'धाताब्जयोनिर्द्रुहिणः', 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्', 'कुण्डली गूढपाच्चक्षुः श्रवाः काकोदरः फणी'—इति च अमरः।

अलङ्कार—( मल्लिनाथ के भी अनुसार ) यहाँ सर्पों के फणों का उन्नमन और आनमन नारदजी के चरणनिधान क्रिया से असम्बद्ध होने पर भी सम्बद्ध दिखलाये गये हैं; अतः, यहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति है।

अब कवि श्रीकृष्ण द्वारा कृत नारदपूजन का वर्णन करता है—

तमर्घ्यमर्घ्यादिकयादिपूरुषः
सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत् ।
गृहानुपैतं प्रणयादभीप्सवो
भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः ।। १४ ।।

अन्वय—आदिपूरुषः, सः, अर्घ्यं, तं, अर्घ्यादिकया, सपर्यया; साधु, पर्यपूपुजत् । मनीषिणः, अपुण्यकृतां, गृहान्, प्रणयात्, उपैतुं, अभीप्सवः, न, भवन्ति ।। १४ ।।

अनुवाद—आदिपुरुष उन श्रीकृष्ण ने पूज्य महर्षि नारद की अर्घ्य आदि सामग्री से उत्तम रीति से अर्चना की; क्योंकि, महात्मा लोग पुण्य न करनेवाले के घर प्रेम से जाने के लिए इच्छुक नहीं होते ।। १४ ।।

सर्वङ्कषा—तमिति ।। आदिपूरुषः पुराणपुरुषः । 'अन्येषामपि दृश्यत' ( पा० ६।३।१३७ ) इति वा दीर्घः । स कृष्णः । अर्घं पूजामर्हति इति अर्घ्यः । 'दण्डादिभ्यो यत्' ( पा० ५।१।६६ ) तं नारदम् । अर्घार्थं द्रव्यम् अर्घ्यम् । 'पादार्घाभ्यां च' ( पा० ५।४।२५ ) इति यत्प्रत्ययः । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः', 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे इति चामरः । अर्घ्यमादिर्यस्याः सा तया अर्घ्यादिकया । 'शेषाद्विभाषा' ( पा० ५।४।१५४ ) इति विकल्पेन कप् प्रत्ययः । सपर्यया पूजया । 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः' इत्यमरः । साधु यथा तथा पर्यपूपुजत् परिपूजितवान् । णौ चङन्तं कर्तव्यम् । युक्तं चैतद् इत्यर्थान्तरं न्यस्यति—गृहानिति । मनस ईषिणो मनीषिणः सन्तः । पृषोदरादित्वात्साधुः । अपुण्यकृताम् पुण्यम् अकृतवताम् । 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' ( पा० ३।२।८९ ) इति भूते क्विप् । गृहान् प्रणयाद् उपैतुम् अभीप्सवः प्राप्तुमिच्छवः, आप्नोतेः सन्नन्ताद् उप्रत्ययः । 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' ( पा० ७।४।५५ ) इतीकारः । न भवन्ति, किन्तु पुण्यकृतामेव । अतः कृच्छ्रलभ्या सन्तः पूज्या इत्यर्थः ।। १४ ।।

सारग्राहिणी—( १ ) आदिपूरुषः सः—आदिपुरुष उन श्रीकृष्ण ने । पूजनक्रिया का कर्ता ।

( २ ) अर्घ्यं तम—पूज्य उन महर्षि नारद की । पूजन-क्रिया का कर्म । अर्घ्यम् = √अर्घ + यत्, द्वि० ए० व० ।

( ३ ) अर्घ्यादिकया—अर्घ्य आदि सामग्री से युक्त । 'सपर्यया' का विशेषण है । अर्घ्य + आदि का तृ० ए० व० ।

( ४ ) सपर्यया—पूजा अर्थात् अर्चना से । सपर्या, तृ० ए० व० । 'साधन' अर्थ में तृतीया हुई है ।

( ५ ) साधु—उत्तम रीति से अर्थात् विधिपूर्वक-क्रिया-विशेषण है ।

( ६ ) पर्यपूपुजत्—अर्चना की । परि + √पूज + णिच् + लुङ् ( प्र० पु० ए० व० ) । क्योंकि,

(७) मनीषिणः—ज्ञानी महात्मा लोग । मनीषिन्, प्र० ब० व० ।

(८) अपुण्यकृतान्-पुण्य न करनेवालों के । नञ् + पुण्य + कृत्, ष० ब० व० ।

( ९ ) गृहान्—घरों को । 'उपैतुम्' का कर्म है ।

( १० ) प्रणयात्—प्रेम से । हेतु अर्थ में पञ्चमी हुई है ।

( ११ ) उपैतुम्—प्राप्त होने के लिए, जाने के लिए । उप + इण् + तुमुन् ।

( १२ ) अभीप्सवः—इच्छुक । अभि + √आप् + सन् + उ(प्र० ब० व०) ।

( १३ ) न भवन्ति—नहीं होते हैं ।

व्याकरण—आदिपुरुषः—आदिश्चासौ पूरुषश्च ( कर्म० ) ।

अर्घ्यादिकया—अर्घ्यम् आदिः यस्याः सा तया ( बहु० ) ।

अपुण्यकृताम्—पुण्यं कृतवन्तः पुण्यकृतः, न पुण्यकृतः = अपुण्यकृतः, तेषाम् ( नञ् तत्पु० ); यहाँ 'पुण्य' से तात्पर्य लौकिक मर्यादा से है । इस तात्पर्य को न ग्रहण कर श्री शारदारंजन राय ( S. R. Ray ) ने शंका की है—'यदि आदिपुरुषस्तदा किं तस्य पुण्यकरणम् ?'

कोश—'मूल्ये पूजाविधावर्घः'; 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः', 'गृहाः पुंसि च भूम्न्येव'—इति च अमरः । 'सूरिः प्राज्ञः पण्डितः सन्मनीषी' इतिहलायुधः ।

अलंकार—यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास नामक अलंकार है, इसका लक्षण इस प्रकार है—

'भवेदर्थान्तरन्यासोऽनुषक्तार्थान्तराभिधा'—( चन्द्रालोक ) ।

मल्लिनाथ इसी पद्य का समर्थन करते हैं । वल्लभदेव आदि कुछ विद्वान् यहाँ उत्तरार्ध को पूर्वार्द्ध में हेतु बतलाकर काव्यलिङ्ग अलंकार मानते हैं ।

तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर यहाँ अर्थान्तरन्यास मानना ही ठीक है।

अब कवि श्रीकृष्ण द्वारा नारदजी को आसन पर बैठाने का वर्णन करता है—

न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ
जनस्तुषाराञ्जनपर्वताविव ।
स्वहस्तदत्ते मुनिमासने मुनि-
श्चिरन्तनस्तावदभिन्यवीविशत् ।। १५ ।।

अन्वय—जनः, तुषाराञ्जनपर्वतौ, इव, उत्थितौ, एतौ, यावत्, न, उदपश्यत्, तावत्, चिरन्तनः, मुनिः, स्वहस्तदत्ते, आसने, मुनिं, अभिन्यवीविशत् ।। १५ ।।

अनुवाद—लोग हिम तथा कज्जल के पर्वत के समान खड़े हुए इन दोनों अर्थात् श्रीकृष्ण एवं नारदजी को जब तक नहीं देख पाये थे, तब तक पुराणमुनि श्रीकृष्ण ने अपने हाथ से दिये हुए आसन पर नारदजी को बैठाया ।। १५ ।।

सर्वङ्कषा—न यावदिति ।। उत्थितौ एतौ मुनिकृष्णौ जनः तुषाराञ्जनयोः पर्वताविव यावन् न उदपश्यत् नोत्प्रेक्षितवान् । तावत् चिरन्तनः पुराणो मुनिः कृष्णः 'पुरा किल भगवान्बदरिकारण्ये नारायणावतारेण तपसि स्थितवान्' इति पुराणात् । 'सायंचिरम्०' (पा० ४।३।२३) इत्यादिना ट्युप्रत्ययस्तुडागमश्च स्वहस्तेन दत्ते आसने मुनिं नारदम् अभिन्यवीविशत् स्वाभिमुखेनोपवेशितवान् । अभिनिपूर्वाद् विशतेर्ण्यन्ताल्लुङि 'णिश्रि०' (पा० ३।१।४८) इति चङ् ।। १५ ।।

सारग्राहिणी—(१) जनः—लोग । दर्शन-क्रिया का कर्त्ता । जन, लोक आदि शब्द संस्कृत में एकवचनी प्रयुक्त होने पर भी हिन्दी में बहुवचनी अर्थ देते हैं ।

(२) तुषाराञ्जनपर्वतौ इव—हिम तथा कज्जल से निर्मित पर्वतों के समान ।

(३) उत्थितौ - खड़े हुए । उद् + √स्था + क्त । द्वि द्वि० व० । 'एतौ' का विशेषण है ।

( ४ ) एतौ—इन दोनों को अर्थात् श्रीकृष्ण एवं नारदजी को। दर्शन-क्रिया का कर्म। एतद्, द्वि० द्वि० व०।

( ५ ) यावत्—जब तक; अव्यय है।

( ६ ) न उदपश्यत्- नहीं देख पाये थे। उत् + दृश् + लङ् (प्र०पु०ए०व०)।

( ७ ) तावत्—तब तक। 'यावद्' से सम्बद्ध।

( ८ ) चिरन्तनः मुनिः—पुराणमुनि अर्थात् श्रीकृष्ण ने। 'नरनारायण' रूप में श्रीकृष्ण तपस्वी का वेष धारण करते हैं; नारद उस रूप के उपासक हैं। अतः, श्री कृष्ण को 'चिरन्तन मुनि' कहना उपयुक्त ही है। चिरन्तनः—चिरम्-तुट् ( त् ) + ट्यु ( अन )।

( ९ स्वहस्तदत्ते—अपने हाथ से दिये हुए। स्व + हस्त + दत्त, स० ए० व०। 'आसने' का विशेषण है। दत्त = √दा + क्त।

( १० ) आसने – आसन पर। आस् + ल्युट् ( अन् ), स० ए० व०।

( ११ ) मुनिम्—महर्षि नारद को। 'बैठाना' क्रिया का कर्म है। मुनि, द्वि० ए० व०।

( १२ ) अभिन्यवीविशत् बैठाया। अभि + नि + √विश + णिच् + लुङ् ( प्र० पु० ए० व० )।

व्याकरण—तुषाराञ्जनपर्वतौ—तुषारश्च अञ्जनश्च इति तुषाराञ्जने, तयोः पर्वतौ इति तुषाराञ्जनपर्वतौ ( द्वन्द्व तत्पु० )।

स्वहस्तदत्ते—स्वस्य हस्तौ स्वहस्तौ, स्वहस्ताभ्यां दत्तं = स्वहस्तदत्तम्, तस्मिन् ( तत्पु० )।

कोश—'तुषारस्तुहिनं हिमम्', 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे', 'महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः'—इति च अमरः।

अलंकार—'तुषाराञ्जनपर्वतौ इव' में उपमा अलंकार है।

अब कवि नारदजी की समता उदयपर्वत पर स्थित चन्द्रमा से बतलाता है—

महामहानीलशिलारुचः पुरो
निषेदिवान्कंसकृषः स विष्टरे।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकै-
रचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम् ॥ १६ ॥

अन्वय—महामहानीलशिलारुचः, कंसकृपः, पुरः, उच्चकैः, आसने, उपविष्टवान्, सः अभिसायं, श्रितोदयाद्रेः, चन्द्रमसः, अभिरामतां, अचूचुरत् ॥ १६ ॥

अनुवाद—विशाल इन्द्रनीलमणि के समान कान्तिवाले, कंस का वध करनेवाले श्रीकृष्ण के सामने उन्नत आसान पर बैठे हुए उन महर्षि नारद ने सन्ध्याकाल में उन्नत उदयाचल पर आरूढ़ चन्द्रमा की शोभा को चुरा लिया अर्थात् चन्द्रमा की समानता को प्राप्त किया ॥ १६ ॥

सर्वङ्कषा – महामहेति ॥ महत्या महानीलशिलायाः सिंहलद्वीपसम्भवेन्द्रनीलोपलस्य रुगिव रुक् यस्य तस्येत्युपमालङ्कारः । 'सिंहलस्याकरोद्भूता महानीलास्तु ते स्मृताः' इति भगवानगस्त्यः । कंसकृपो हरेः पुरोऽग्रे उच्चकैरुन्नते विष्टरे आसने । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' ( पा० ८।३।९३ ) इति षत्वम् । निषेदिवानुपविष्टवान् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' ( पा० ३।२।१०८ ) इति क्वसुः । स मुनिः अभिसायं सायङ्कालाभिमुखम् । अव्ययीभावसमासः । सायंकालस्य कार्ष्ण्यात् कृष्णोपमानत्वम् । श्रितः आश्रित उदयाद्रिः उदयाचलो येन तस्य चन्द्रमसः अभिरामतां शोभाम् अचूचुरत् चोरितवान्, प्राप्तवानित्यर्थः । 'चुर स्तेये' 'णिश्रि० ( पा० ३।१।४८ ) इति चङ् । इति अन्यस्यान्यधर्मसम्बन्धासम्भवात् 'चन्द्रमसोऽभिरामतामिव अभिरामताम्' इति औपम्यपर्यवसानादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनाभेदः' स च उक्तोपमया अंगाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ॥ १६ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) महामहानीलशिलारुचः—विशाल इन्द्रनील मणि के समान कान्तिवाले । महत् + महानील + शिला + रुच्, ष० ए० व० ।

( २ ) कंसकृष :—कंस का वध करनेवाले श्रीकृष्ण के । कंस + कृष्, ष० ए० व० । { √कृष् + क्विप् ( सर्वापहारी लोप ) कृष् }

( ३ ) पुर :—सामने । अव्यय ।

( ४ ) उच्चकैः विष्टरे—उन्नत आसन पर । विष्टर = वि + √स्तॄञ् + अप्; स० ए० व० ।

( ५ ) निषेदिवान् सः—बैठे हुए उन महर्षि नारद ने । निषेदिवान्—नि + √सद् + क्वसु ( प्र० ए० व० ) ।

( ६ ) अभिसायम्—सन्ध्याकाल में ।

(७) श्रितोदयाद्रेः—उदयाचल पर आरूढ़। श्रित + उदय + अद्रि, ष० ए० व०। 'चन्द्रमसः' का विशेषण है।

(८) चन्द्रमस :—चन्द्रमा की। चन्द्रमस्, पुं० ष० ए० व०।

(९) अभिरामताम्—शोभा को। अभि + √रम् + घञ्, तल् + टाप् = अभिरामता; द्वि० ए० व०।

(१०) अचूचुरत्—चुरा लिया; अर्थात् चन्द्रमा की समानता को प्राप्त किया √चुर + लुङ्, प्र० पु० ए० व०।

व्याकरण—महामहानीलशिलारुचः—महानीलः अस्ति यस्याः सा महानीला; महानीला चासौ शिला च = महानीलशिला, महती चासौ महानीलशिला च = महामहानीलशिला, तस्याः रुक् इव रुक् यस्य सः।

मल्लिनाथ को 'महानीलः मणिविशेषः स चासौ शिला च' ऐसा प्रारम्भिक समास अभिमत प्रतीत होता है; वे लिखते हैं—'महत्या महानीलशिलायाः सिंहलद्वीपसम्भवनीलोपलस्य रुगिव रुक् यस्य तस्य।'

श्रितोदयाद्रेः—श्रितः उदयाद्रिः येन सः तस्य (बहु०)।

अभिसायम्—सायंकाले इति अभिसायम् (अव्ययीभाव)।

अभिरामताम्—अभिरमन्ते जनाः अस्मिन् इत्यभिरामः, अभिरामस्य भावः अभिरामता, ताम् (तत्पु०)।

कोश—'सिंहलस्थाकरोद्भूता महानीलास्तु ते स्मृताः' इति अगस्त्यः। 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः', विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम्', 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्'—इति च अमरः।

अलंकार—'महामहानीलशिलारुचः' में उपमा है।

'चन्द्रमसः अभिरामताम् अचूचुरत्' में उपमा है।

मल्लिनाथ सायंकाल को श्यामतारूप समान धर्म के आधार पर कृष्ण का उपमान मानते हैं, तथा 'अभिरामतामिव अभिरामताम्' से बोधित निदर्शना मानते हैं एवं दोनों का अंगागिभाव संकर मानते हैं।

S. R. Ray मल्लिनाथ की बात पर आपत्ति करते हैं। वे उदयाद्रि को श्रीकृष्ण का उपमान मानते हैं; उनके अनुसार पूर्णिमा का सायंकाल प्रकाशयुक्त होने से कृष्ण का उपमान नहीं हो सकता।

सत्य यह है कि S. R. Ray यह स्मरण नहीं कर पाते कि 'कंसकृपः पुरो विष्टरे निषेदिवान्' नारदजी की समता 'श्रितोदयाद्रि चन्द्रमा से' की गयी है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता हैं कि मल्लिनाथ का कथन ही युक्तियुक्त हैं; उस पर किये जानेवाले आक्षेप नगण्य हैं।

अब कवि श्रीकृष्ण के नारदपूजन से प्रसन्न होने की बात बतलाते हैं—

विधाय तस्यापचितिं प्रसेदुषः
प्रकाममप्रीयत यज्वनां प्रियः।
ग्रहीतुमार्यान् परिचर्यया मुहु-
र्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः ॥ १७ ॥

**अन्वय**—यज्वनां, प्रियः, प्रसेदुषः, तस्य, अपचितिं, विधाय, प्रकामं, अप्रीयत। हि, महानुभावः; आर्यान्, परिचर्यया, मुहुः, ग्रहीतुं, नितान्तं, अर्थिनः, भवन्ति ॥ १७ ॥

**अनुवाद**—विधिपूर्वक यज्ञ करनेवालों के प्रिय श्रीकृष्ण प्रसन्नचित उन महर्षि नारद की पूजा करके अत्यन्त प्रसन्न हुए; क्योंकि महानुभाव लोग पूज्यजनों को बार-बार सेवा द्वारा वशीभूत करने के लिए अत्यन्त इच्छुक होते हैं ॥ १७ ॥

**सर्वङ्कषा**—विधायेति ॥ यज्वानो विधिनेष्टवन्तः। 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः। 'सुयजोः०' ( पा० ३।२।१०३ ) इति यजिधातोर्ङ्वनिप्। तेषां प्रियो हरिः प्रसेदुषः प्रसन्नस्य। 'सदेः क्वसुः' इत्युक्तम्। तस्य मुनेः अपचितिं पूजां। नमस्यापचितिः' इत्यमरः विधाय विशेषेण मनोवाक्कायकर्मभिस्तत्परतया कृत्वा प्रकामम् अत्यर्थम् अप्रीयत प्रीतो बभूव। प्रीयतेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ्। मुनिपूजायाः प्रीतिहेतुत्वेऽर्थान्तरं न्यस्यति—महानुभावा महात्मानः आर्यान् पूज्यान् परिचर्यया मुहुः ग्रहीतुं वशीकर्तुं। 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' ( पा० ७।२।३७ ) इतीटो दीर्घः। नितान्तम् अर्थिनः अभिलाषवन्तो हि भवन्ति। अर्थोऽभिलाषः स एषामस्तीति मत्वर्थ इनिर्न तु णिनिः। 'कृद्वृत्तेस्तद्धितवृत्तिर्बलीयसी' इति भाष्यात् ॥ १७ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) यज्वनां प्रियः—विधिपूर्वक यज्ञ करनेवालों के प्रिय अर्थात् श्रीकृष्ण। 'प्रीणन' क्रिया का कर्ता। यज्वनाम्—√यज् + ङ्वनिप्, ष० ब० व०।

( २ ) प्रसेदुषः तस्य—प्रसन्नचित्त उन महर्षि नारद की। प्र + √सद् + क्वसु, ष० ए० व० = 'प्रसेदुषः' तस्य का विशेषण है।

( ३ ) अपचितिम्—पूजा ( को )। अप + √ चि + क्तिन् (स्त्रियां क्तिन्) = अपचिति, द्वि० ए० व०। 'विधाय' क्रिया का कर्म।

( ४ ) विधाय—करके। वि + √धा + क्त्वा ( ल्यप् ) 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इस वार्तिक से 'क्त्वा' को 'ल्यप्' आदेश होता है।

( ५ ) प्रकामम् अप्रीयत—अत्यन्त प्रसन्न हुए। 'प्रकामम्'—क्रियाविशेषण। 'प्रीणन' क्रिया से अन्वित होता है; प्रकामं यथा स्यात् तथा अप्रीयत।'

( ६ ) हि—क्योंकि। हेत्वर्थ अव्यय।

( ७ ) महानुभावाः—महापुरुष। महत् + अनुभाव, प्र० ब० व०। अनु + भू + घञ् = अनुभाव।

( ८ ) आर्यान्—पूज्यजनों को। ग्रहण क्रिया का कर्म है। आर्य, द्वि० ब० व०। √ऋ + ण्यत् ( ऋहलोर्ण्यत् )। कर्तव्य का आचरण करनेवाला, अकर्तव्य का आचरण न करनेवाले तथा लोकमर्यादा में रहनेवाला आर्य कहा जाता है—

'कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः॥'

( ९ ) मुहुः—बार-बार अव्यय है।

( १० ) परिचर्यया—सेवा द्वारा। परिचर्या ( 'परिचर्यापरिसर्या' इत्यादि वार्तिक से निपातन हुआ है) स्त्री०, तृ० ए० व०। साधन अर्थ में तृतीया हुई।

( ११ ) ग्रहीतुम्—वशीभूत करने के लिए। √ग्रह् + इ + तुमुन्। मल्लिनाथ को यही अर्थ अभिमत है।

S. R. Ray इसका अर्थ तुष्ट करने के लिए करते हैं।
मल्लिनाथ का अर्थ ही प्रसगानुरूप होने से उपयुक्त है।

( १२ ) अर्थिनः—इच्छुक; 'भवन्ति' ऐसा अपनी ओर क्रियापद जोड़ना चाहिए। √अर्थ + क = अर्थ; 'अर्थः अस्य एषाम्' इस अर्थ में 'अर्थ' शब्द से इनि प्रत्यय मल्लिनाथ भी मानते हैं। यों तो √अर्थ धातु से ताच्छील्य में णिनि प्रत्यय हुआ है, ऐसा प्रतीत हो रहा है, किन्तु 'कृद्वृत्तेस्तद्धितवृत्तिर्बलीयसी' इस भाष्योक्त के अनुसार यहाँ मतुवर्थ में 'इनि' प्रत्यय ही मानना उपयुक्त है। मल्लिनाथ इसी बात का समर्थन करते हैं। इसमें कारण यह है कि अष्टाध्यायी में पाठक्रम में कृत् प्रत्यय के बाद तद्धित प्रत्यय का विधान होने से तथा 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' नियम के अनुसार दोनों प्राप्त होने पर तद्धित प्रत्यय करना चाहिए, क्योंकि वह पर है। यहाँ शारदारञ्जन राय का अभिमत है कि यदि किसी प्रकार यहाँ कृत् प्रत्यय माना जावे, तो 'नितान्तम्' की संगति तुरन्त हो जाती है। जो भी हो, दोनों ही स्थितियों में 'नितान्तम्' क्रियाविशेषण है।

व्याकरण—अपचितिम्—सत्कारम्, द्वि० ए०। महानुभावाः—महान् अनुभावो येषां ते—उदाराशयाः।

कोश—'यज्वा तु विधिनेष्टवान्', 'पूजानमस्यापचितिः', 'परिचर्याप्युपासना'—इति च अमरः।

अलंकार—( अ ) इस श्लोक में पूर्वार्द्ध में विशेष बात कही गयी है तथा उत्तरार्द्ध में वर्णित सामान्यद्वारा उसका समर्थन किया गया है; अतः समर्थ्य समर्थकभाव होने से यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है।

( ब ) यज्वनाम् = विधिपूर्वक यज्ञ करनेवालों के। प्रसेदुषः = प्रसन्न हुए के ( तस्य = नारद का विशेषण है )। प्रकामम् = बहुत।

महर्षि नारद ने कमण्डलु में रखा जल हरि के मस्तक पर छिड़का तथा हरि ने उसे नम्रता से ग्रहण किया, यह बात कवि कह रहा है—

अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलो-
र्निधाय पाणावृषिणाभ्युदीरिताः।
अघौघविध्वंसविधौ पटीयसी-
र्नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः॥१८॥

अन्वय—अशेषतीर्थोपहृताः, कमण्डलोः, पाणौ, निधाय, ऋषिणा, अभ्युदीरिताः, अघौघविध्वंसविधौ, पटीयसीः, अपः, हरिः, नतेन, मूर्ध्ना, अग्रहीत् ॥१८॥

अनुवाद—हरि ने समस्त तीर्थों से लाये हुए, कमण्डलु से ( अपने ) हाथ पर रखकर महर्षि द्वारा छिड़के हुए तथा पापसमूह को नष्ट करने में पूर्ण समर्थ जल को नम्र मस्तक से ग्रहण किया ॥१८॥

सर्वङ्कषा—अशेषेति ॥ अशेषेभ्यः तीर्थेभ्यः उपहृता आहृतास्तथा पाणौ निधाय । कमण्डलोरुदकपात्रादुद्धृत्य पाणौ निधायेत्यर्थः । क्रियान्तराक्षिप्तक्रियापेक्षया कमण्डलोरपादानत्वम् । 'अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी' इत्यमरः । ऋषिणाभ्युदीरिता आक्षिप्ता अत एवाघौघानां पापसमूहानां विध्वंसविधौ विनाशकरणे पटीयसीः समर्थतराः । पटुशब्दादीयसुनि 'उगितश्च' इति ङीप् । अपो जलानि हरिर्नतेन मूर्ध्नाऽग्रहीत्स्वीकृतवान् । ग्रहेर्लुङ् ॥१८॥

सारग्राहिणी—( १ ) हरिः—श्रीकृष्ण ने । हरति भक्तानां पापानि, हरति यज्ञभागं, हरति दुष्टानामसून् वा इति हरिः ।

( २ ) अशेषतीर्थोपहृताः—समस्त तीर्थों से लाये हुए । शिष् + घञ् ( कर्मणि में ) = शेष, अविद्यमानं शेषं येषां तानि अशेषाणि तीर्थानि, उप + हृ + क्त ( कर्मणि ) = उपहृत, यह सम्पूर्ण पद अपः ( —द्वि० ब० व० ) का विशेषण है । यहाँ 'अशेषाणि' में बहुव्रीहि समास है, क्योंकि 'नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वाचोत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः' ऐसा विधान है ।

( ३ ) कमण्डलोः—कमण्डलु से । कमण्डलोः पं० ए० व० का रूप है यह अपादान कारकान्त है । अर्थात् यहाँ अपादान में पंचमी हुई है । यह अपादानता ( कमण्डलु की ) उद्धरणक्रिया ( उद्धृत्य से ) संकेतित हो रही है । जैसा कि मल्लिनाथ ने लिखा है । यह उद्धरणक्रिया निधानक्रिया ( निधाय ) से ज्ञात हो रही है ।

( ४ ) पाणौ—हाथ पर ( मुनि के अपने हाथ पर ) । यह पाणि शब्द का सप्तमी एकवचन है ।

( ५ ) निधाय—रखकर। नि + √धा धातु + ल्यप् यहीं धा धातु के पूर्व उपसर्ग 'नि' होने के कारण भूतकालिक अर्थ में होनेवाले 'क्त्वा' की जगह ल्यप् हुआ है। उपसर्गयुक्त ऐसे क्त्वाप्रत्यय के स्थल में समास होता है और तत्फलस्वरूप 'समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वो ल्यप्' ( पा० ७।१।३७ ) से ल्यप् होता है। ल्यप् में 'य' बचता है।

( ६ ) ऋषिणा—ऋषिद्वारा। यह पद महर्षि नारद के लिए प्रयुक्त हुआ है।

( ७ ) अभ्युदीरिताः—छिड़की हुई। यहाँ और अन्य ( पटीयसीः ) में स्त्रीलिंग द्वि० व० का प्रयोग। आप् शब्द मूलतः संस्कृत में स्त्रीलिंग तथा ब० व० होने के कारण हुआ है। कहा भी गया है—'यल्लिङ्गं यद्वचनं या च विभक्ति-विशेष्यस्य। तल्लिङ्गं तद्वचनं सैवविभक्तिर्विशेषणस्यापि॥' अभि + उद् + ईर ( प्रेरणार्थक धातु ) + णिच् + ( स्वार्थ में ) + क्त ( कर्मणि )।

( ८ ) अघौघविध्वंसविधौ—पापसमूह के नाश के विधान के विषय में ( बारे में )। इसका सम्बन्ध आगे आनेवाले पद 'पटीयसीः' से है। अघ + ओघ + विध्वंस + विधौ; वि + √ध्वंस धातु + घञ् ( भावे ) = विध्वंस, वि + √धा धातु + कि ( भावे ) = विधि।

( ९ ) पटीयसीः—समर्थतर। यह अपः का विशेषण है। अतिशयेन पट्वी पटीयसी; पट्वी + ईयसुन् + ङीप् ( स्त्रीलिंग की विवक्षा में ) = पटीयसी; शस् ( द्वि० व० ) में रूप पटीयसीः। ईयसुन् प्रत्यय तुलना के अर्थ में प्रयुक्त होता है; यहाँ अन्य पवित्र जलों के साथ तुलना शब्दतः प्रतिपादित नहीं है, अपितु बुद्धिस्थ है।

( १० ) अपः—जलों को। आप् शब्द का द्वि० ब० रूप। आप् शब्द नित्य स्त्रीलिंग तथा बहुवचन में प्रयुक्त होता है। 'आपः स्त्री भूम्नि' अमरकोशः। इस शब्द का सम्बन्ध 'अग्रहीत्' क्रिया से है।

> 'आपः सुमनसो वर्षा अप्सरस् सिकताः समाः।
> एते स्त्रियां बहुत्वे स्युरेकत्वेऽप्युत्तरत्रयम्॥'

( ११ ) तनेन—तम गुके हुए। यह मूर्च्छा का विशेषण है। √तम + क्त ( कर्त्तरि )।

( २१ ) मूर्ध्ना—मस्तक से । यहाँ 'करण' अर्थ में तृतीया हुई है। मूर्धन् + टा = मूर्ध्ना ।

( १३ ) अग्रहीत्—ग्रहण किया । √ग्रह धातु ( ग्रहण करना, लेना+ लुङ् लकार तिप्, ( प्र० पु० ए० व० ) ।

व्याकरण—अशेषतीर्थोपहृताः = अविद्यमानं शेषं येषां तानि अशेषाणि, अशेषेभ्यः तीर्थेभ्यः उपहृताः इति अशेषतीर्थोपहृताः ( तत्पुरुष ) । अघौघविध्वंसविधौ = अघानाम् ओघः अघौघः, अघौघविध्वंसः, तस्य विधिः, तस्मिन् इति अघौघविध्वंसविधौ ( तत्पु० ) ।

कोश—स्तोमौघनिकरव्रातवारसंघातसञ्चयाः,' 'विधिर्विधाने', मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्'—इति च अमरः ।

हरि महर्षि की आज्ञा से जिस आसन पर बैठे उसका वर्णन—

स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया
नवाम्बुदश्यामतनुर्न्यविक्षत ।
जिगाय जम्बूजनितश्रियः श्रियं
सुमेरुशृङ्गस्य तदा तदासनम् ।। १९ ।।

अन्वय—नवाम्बुदश्यामतनुः, सः, मुनेः, अनुज्ञया, काञ्चने, यत्र, न्यविक्षत, तदासनं, तदा, जम्बूजनितश्रियः, सुमेरुशृङ्गस्य, श्रियं, जिगाय ।। १९ ।।

अनुवाद—नवीन ( जलयुक्त ) मेघ के समान श्यामवर्ण देहवाले श्रीकृष्ण महर्षि की आज्ञा से जिस स्वर्णमय आसन पर बैठे, उस समय उस आसन ने जामुन के फलों से सुशोभित सुमेरु पर्वत के शिखर की शोभा को जीत लिया ।।१९।।

सर्वङ्कषा—स काञ्चनेति ।। नवाम्बुदश्यामतनुः सः हरिः मुनेः अनुज्ञया काञ्चने काञ्चनविकारे 'वैकारिकः अण् प्रत्ययः' यत्र आसने न्यविक्षत उपविष्टवान् । निपूर्वविशेर्लुङि 'नेर्विशः' इत्यात्मनेपदम् । 'शलइगुपधादनिटः क्सः ।' तत् आसनं तदा हर्य्युपवेशनसमये जम्बूः नीलफलविशेषः 'जम्बुः सुरभिपत्रा च राजजम्बूर्महाफला' इत्यभिधानरत्नमालायाम्, तया जनिता श्रीः यस्य तत् तथोक्तस्य । भाषितपुंस्कत्वात् पक्षे पुंवद्भावात् नुमभावः । सुमेरुशृंगस्य श्रियं जिगाय अभिभूतवान् इत्यर्थः । 'सम्लिटोर्जेः' इति कुत्वम् । उपमानानुप्रासयोः संसृष्टिः ।। १९ ।।

सारग्राहिणी ( १ ) नवाम्बुदश्यामतनुः—नवीन अर्थात् जलयुक्त मेघ के समान श्यामवर्ण देहवाले । यह 'सः' का विशेषण है । नव + अम्बुद + श्याम + तनु, अम्बुदः = अम्बु + दा धातु + क ( कर्तरि ) । यहाँ नवीन जलयुक्त मेघ के समान ऐसा सादृश्य होने से उपमा अलंकार है । नवाम्बुद—उपमान, श्यामत्व-सादृश्य, तनु—उपमेय हैं । यहाँ वाचक शब्द समास में छिपा हुआ है । अतः यहाँ वाचकलुप्ता उपमा है ।

( २ ) सः—हरि, श्रीकृष्ण, यहाँ तत् शब्द पूर्वपरामर्शी होने से ( बुद्धिस्थ का वाचक होने से ) इस सर्वनाम शब्द से श्रीकृष्ण का बोध हो रहा है ।

( ३ ) मुनेः—महर्षि नारद के । षष्ठी ए० व० । इसका सम्बन्ध आगे आनेवाले 'अनुज्ञया' शब्द से है ।

( ४ ) अनुज्ञया—आज्ञा से । अनु + √ज्ञा धातु ( ज्ञानार्थक ) + अङ् । तृ० ए० व० । इससे ज्ञात होता है कि महर्षि की आज्ञा मिलने से पूर्व श्रीकृष्ण खड़े थे ।

( ५ ) काञ्चने—सुवर्णनिर्मित । स० ए० व० । यह यत्र ( आसन के लिए प्रयुक्त ) का विशेषण है । 'काञ्चनस्य विकारः' इस अर्थ में यहाँ विकारार्थ में तद्धित अण् प्रत्यय हुआ है । काञ्चन + अण् = काञ्चनम्, तस्मिन् । यहाँ वल्लभ-देव 'अञ्' प्रत्यय मानते हैं ।

( ६ ) यत्र—यहाँ, जिस आसन पर । यत् शब्द से सप्तमी के अर्थ में त्रल् हुआ है ।

( ७ ) न्यविक्षत—बैठे । नि + √विश प्रवेशने धातु + लङ् ( त ) । आत्मनेपद, प्र० पु० ए० व० । यहाँ नि उपसर्ग लगने से 'नेर्विशः' से विश् धातु आत्मनेपद हुआ है । यहाँ 'लुङ्' लकार के विकरण सिच् की जगह 'शलइगुप-धादनिटः क्सः' से क्स होता है । उसमें 'स' बचता है । अतः, न्यविक्षत = नि + अ + विश् + स + त ।

( ८ ) तत्—वह । यह 'आसनम्' का विशेषण है ।

( ९ ) आसनम्—आसन । आस्यते अस्मिन् इति आसनम् । √आस् धातु ( उपवेशनार्थक ) + ल्युट् ( अधिकरण अर्थ में ) ।

( १० ) तदा—उस समय । 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' इस न्याय से 'तदा' के द्वारा 'यदा' का आक्षेप किया जाता है । अतः, तदा = उस समय, ( जब ) जिस समय श्रीकृष्ण आसन पर बैठे ।

( ११ ) जम्बूजनितश्रियः—जामुन के फलों से उत्पन्न की हुई शोभावाले । यह 'सुमेरुशृंगस्य' का विशेषण है । जम्बू + जनिता + श्री । यहाँ जम्बू शब्द जामुन के पेड़ के फल के लिए प्रयुक्त हुआ है । जम्वाः फलं जम्बूः, जम्बू + अञ् । यहाँ 'लुप् च' से अञ् का लोप हुआ है । यहाँ फलार्थक जम्बू शब्द होने पर भी 'लुपि युक्तवद् व्यक्तवचने' से स्त्रीलिंग तथा ए० व० हुआ है । जनिता = √जन् उत्पत्त्यर्थक धातु + णिच् + क्त ( कर्मणि ) स्त्रीलिंग श्री का विशेपण । यहाँ समास होने पर 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से जनिता की जगह जनित हुआ है । यहाँ शंका होती है कि 'वारिणः' की तरह·······श्रिणः' क्यों नहीं हुआ ? इसका उत्तर है कि यहाँ 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य' से पुंवद्भाव होने से·······श्रियः' होता है । मल्लिनाथ तथा S. R. Ray की यह सम्मति है ।

( १२ ) सुमेरुशृङ्गस्य—सुमेरुपर्वत के शिखर की । इसका सम्बन्ध 'श्रियं' से है ।

( १३ ) श्रियम्—शोभा को, 'श्री' शब्द द्वि० ए० व० ।

( १४ ) जिगाय—जीता । √जि जये धातु + लिट् लकार, प्र० पु० ए० व० ।

**व्याकरण**—नवाम्बुदश्यामतनुः—नवः यः अम्बुदः सः इव श्यामा तनुः यस्य सः ( बहु० ) । जम्बूजनितश्रियः—जम्बूभिः जनिता श्रीः यस्य तत् तस्य ( बहु० ) । सुमेरुशृंगस्य—सुमेरोः शृंगम् सुमेरुशृंगम् तस्य सुमेरुशृंगस्य ( षष्ठी तत्पु० ) ।

**कोश**—'जम्बुः सुरभिपत्रा च राजजम्बुर्महाफला'—अभिधानरत्नमाला । 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृंगम्'—अमरः ।

आसनोपविष्ट श्रीकृष्ण की समुद्र से समता दिखलाते हैं—

स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः
कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः ।
विदिद्युते वाडवजातवेदसः
शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः ॥२०॥

अन्वय—तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः, कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः, सः, वाडवजातवेदसः, शिखाभिः, आश्लिष्टः, अम्भसां, निधिः, इव, विदिद्युते ॥२०॥

अनुवाद—तपाये हुए सुवर्ण के समान देदीप्यमान पीताम्बर को धारण किये हुए तथा पूर्णचन्द्रमा के कलंक के समान श्यामल शोभावाले श्रीकृष्ण वाडवाग्नि की ज्वालाओं से व्याप्त समुद्र के समान सुशोभित हुए ॥२०॥

सर्वङ्कषा—स तप्तेति ॥ 'तप्तं पुटपाकशोधितं कार्तस्वरं सुवर्णम् । 'रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तद्वत् भास्वरं दीप्यमानम् अम्बरं यस्य सः पीताम्बर इत्यर्थः । कठोरताराधिपस्य पूर्णेन्दोः लांछनस्य छविरिव छविर्यस्य सः इति उपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च । स हरिर्वाडवजातवेदसः वाडवाग्नेः शिखाभिर्ज्वालाभिराश्लिष्टो व्याप्तः अम्भसां निधिरिव समुद्र इव विदिद्युते बभौ ॥२०॥

सारग्राहिणी—( १ ) तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः—तपाये हुए स्वर्ण के समान देदीप्यमान वस्त्र ( पीताम्बर ) वाले । यह 'सः' का विशेषण है । तप्त + कार्तस्वर + भास्वर + अम्बरः । तप् + क्त ( कर्मणि ) + तप्त । कृतस्वरे आकर विशेषे भवं = कार्तस्वरम्, कृतस्वर + अण् (भवार्थ) = कार्तस्वरम्; S. R. Ray लिखते हैं—'कृताः पठिताः स्वरा येन सः कृतस्वरः' A learned bahman. तस्मै देयं = ( 'कार्तस्वर' ) 'शेषे' इत्यण् । यहाँ उपमा अलंकार है, क्योंकि कृष्ण के वस्त्र को त[illegible] स्वर्ण की उपमा दी गयी है ।

( २ ) कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः—पूर्णचन्द्रमा के समान श्यामल शोभावाले । यह भी 'सः' का विशेषण है । कठोर + ताराधिप + लाञ्छन + छविः । 'कठोर' शब्द का वाच्यार्थ कड़ा, कठिन होता है । यहाँ लक्षण से इसका

अर्थ 'पूर्ण' लिया गया है। अश्विनी, भरणी आदि २८ ताराओं का अधिप होने से चन्द्रमा को 'ताराधिप' कहा जाता है। यहाँ भी कृष्ण को कठोर चन्द्रमा के कलंक की छवि के समान छविवाला कहने से उपमा अलंकार है।

यहाँ वल्लभदेव लिखते हैं—'एवंविधं चोपमानमसिद्धत्वादलंकारविद्भिर्नेष्यते।' यहाँ 'लांछनच्छविः' में 'छे च' से 'तुक्' का आगम होने से तथा उसे श्चुत्व होने से लांछन तथा छवि के बीच 'च' दीख रहा है।

( ३ ) सः—श्रीकृष्ण। तत् पद श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि वे ही प्रक्रान्त हैं।

( ४ ) वाडवजातवेदसः—वाडवाग्नि की। वाडव+जातवेदाः। वडवायां भवः इस अर्थ में वडवा + अण् = वाडवः। 'जातेषु विद्यते इति जातवेदाः' That which exists in everything born—S. R. Ray. जात एव वेत्ति सर्वं तत्त्वजातमिति जातवेदाः।

( ५ ) शिखाभिः—ज्वालाओं से। इसका सम्बन्ध 'आश्लिष्टः' से है।

( ६ ) आश्लिष्टः—व्याप्त, घिरा हुआ। यह 'अम्भसां निधिः' का विशेषण है। आ + √श्लिष आश्लेषणे धातु + कर्मणि क्त।

( ७ ) अम्भसां—पानी का।

( ८ ) निधिः—खजाना, भण्डार। इन दोनों शब्दों का पृथक्-पृथक् अर्थ यह होने पर भी सम्मिलित अर्थ 'समुद्र' है। समुद्र के लिए यह ( अम्भोनिधिः ) योगरूढ़ है। नि + √धा धारणे धातु + कि ( अधिकरण अर्थ में ) = निधिः।

( ९ ) इव....जिस प्रकार, उस प्रकार, के समान। यहाँ उपमा अलंकार है। S. R. Ray यहाँ 'उपमा' को विचारणीय बतलाते हैं। वे कहते हैं—'Hari is clothed in Fellow, the sea is not so clothed in fire.' किन्तु यहाँ 'आवृतत्व' रूप साधारण धर्म रहने से तथा चमत्कार रहने से 'उपमा' बनने में कोई अनुपपत्ति नहीं हो पाती है।

( १० ) विदिद्युते—सुशोभित हुए। इस क्रिया का कर्त्ता 'सः' है। वि + द्युत् + लिट् ( आत्मनेपद ) प्र० पु० ए०व०।

व्याकरण—तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः—तप्तं च तत् कार्तस्वरं च तप्तकार्तस्वरं तद्वत् भास्वरम् अम्बरं यस्य सः (बहु०)। कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः—कठोरश्चासौ ताराधिपश्चेति कठोरताराधिपः, तस्य लाञ्छनम्, तस्य छविरिवछविः यस्य सः (बहु०)। भास्वर—भास् + वरच् = चमकीला, देदीप्यमान।

कोश—'रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्', 'कलङ्काऽङ्कौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्', 'वाडवो वडवानलः', 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलावर्चिर्हेतिः शिखा स्त्रियाम्'—इति चामरः।

महर्षि नारद की शुभ्र किरणें हरि की श्यामल किरणों से मिश्रित हुईं यह वर्णन करते हैं—

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषा-
मृषित्विषः संवलिता विरेजिरे।
चलत्पलाशान्तरगोचरास्तरो-
स्तुषारमूर्तेरिव नक्तमंशवः ॥२१॥

अन्वय—रथांगपाणेः, रोचिषां, पटलेन, संवलिताः, ऋषित्विषः, नक्तं, तरोः चलत्पलाशान्तऽगोचराः, तुषारमूर्तेः, अंशवः, इव, विरेजिरे ॥२१॥

अनुवाद—सुदर्शनचक्र को कर में धारण करनेवाले श्रीकृष्ण की कान्तियों के समूह से मिश्रित ऋषिकान्तियाँ रात्रि के समय (पवन से) चञ्चल, होनेवाले वृक्ष के पत्तों के बीच दीखनेवाली चन्द्रमा की किरणों के समान सुशोभित हुईं ॥२१॥

सर्वङ्कषा—रथांगपाणेरिति ॥ रथांगं चक्रं पाणौ यस्य तस्य हरेः 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवत' इति पाणेः परनिपातः। रोचिषां छवीनां पटलेन संवलिता मिलिता ऋषित्विषो नक्तं रात्रौ सप्तम्यर्थमव्ययम्। तरोश्चलतां पलाशानां पत्राणामन्तराणि विवराणि गोचर आश्रयो येषां ते। तुषारा मूर्तिर्यस्य तस्येन्दोरंशव इव विरेजिरे चकाशिरे ॥२१॥

सारग्राहिणी—( १ ) रथाङ्गपाणेः—श्रीकृष्ण की। रथांग + पाणि; रथस्य अंगं = रथांगं, रथ का पहिया रथ का अंग ( प्रधान अवयव ) होता है; वह गोल होता है तथा चक्र भी ( आयुधविशेष ) उसके समान आकार का होता है; अतः, चक्र को रथांग कहा जाता है। कृष्ण के हाथ में चक्र रहता है; अतः उन्हें 'रथांगपाणि' कहा गया है। कहा भी गया है—'सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं·······नमामि विष्णुम्', ष० ए० व०।

( २ ) रोचिषाम्—कान्तियों के। रोचिस्; ष० व० व०।

( ३ ) पटलेन—समूह से। यहाँ सहार्थे तृतीया हुई। 'पटलेन सह'—यह अर्थ यहाँ छिपा हुआ है।

( ४ ) संवलिताः—'मिश्रित' मिली हुई। सम् + √वल धातु + क्त। यह 'ऋषित्विषः' का विशेषण है।

( ५ ) ऋषित्विषः—ऋषि + त्विष्—ऋषि की किरणें। यह 'विरेजिरे' क्रिया का कर्ता है।

( ६ ) नक्तम्—रात्रि के समय। यह सप्तम्यर्थक रात्रिवाचक अव्यय है।

( ७ ) तरोः—वृक्ष के। तरु, ष० ए० व०।

( ८ ) चलत्पलाशान्तरगोचराः—चञ्चल पत्तों के बीच दीखनेवाले। यह 'अंशवः' का विशेषण है। चलत् + पलाश + अन्तर + गोचराः। √चल + शतृ—चलत्। गोचर = गो + चर धातु + घ, अधिकरण अर्थ में निपातन होने से गोचर। गावः इन्द्रियाणि चरन्ति अस्मिन् इति—S. R. Ray.

( ९ ) तुषारमूर्तेः—चन्द्रमा की। तुषारा मूर्तिर्यस्य तस्य तुषारमूर्तेः। यहाँ S. R. Ray लिखते हैं—तुषारस्य मूर्तिरिव मूर्तिर्यस्य तस्य। वे कहते हैं—The idea is vague in the first exposition, prefer the second. यहाँ प्रथम समास को भी मानना ठीक ही है, क्योंकि वै० दृ० चन्द्रमा वालुकामय ग्रह होने से शीतल हो सकता है। उसकी अनुभूति भी शीतल होती है।

( १० ) अंशवः—अंशु, प्र० व० व०। यहाँ वल्लभदेव लिखते है—'अंशवो वायुधूततरुपर्णमध्यप्रविष्टा इत्यर्थः।'

( ११ ) इव—यथा । यहाँ मल्लिनाथ आदि उपमा अलंकार मानते हैं, किन्तु वल्लभदेव लिखते हैं—उत्प्रेक्षते नक्तं……। स्मरणीय है कि 'इव' शब्द उपमा तथा उत्प्रेक्षा दोनों का वाचक होता है, किन्तु उसके अर्थ में तारतम्य होता है। देखिये —इसी पद्य का अलंकार-विवरण।

( १२ ) विरेजिरे—वि + √राज् दीप्तौ + लिट् ( आत्मनेपद ) प्र० पु० व० व०।

व्याकरण—चलत्पलाशान्तरगोचराः—चलन्ति यानि पलाशानि तेपामन्तराणि चलत्पलाशान्तराणि, तानि गोचरो येषां ते ( बहु० )।

कोश—'पत्रं पलाशं छदनम्', 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धि भेदतादर्थ्ये', 'विटपी पादपस्तरुः', 'तुषारस्तुहिनं हिमम्', 'किरणोस्रमयूखांशुः'—इति च अमरः।

अलङ्कार—यहाँ उपमा अलंकार मानना ही उचित है, क्योंकि जहाँ 'इव' शब्द साधर्म्य की ओर संकेत करता है वहाँ 'उपमा' ही होती है; जहाँ 'इव' शब्द सम्भावना की ओर संकेत करता है, वहाँ उत्प्रेक्षा ही होती है। तदुक्तं चक्रवर्तिभट्टाचार्यैः—

'तदोपमैव येनेव शब्दः साधर्म्यवाचकः ॥
यदापुनरयं लोकादसिद्धिः कविकल्पितः।
तदोत्प्रेक्षैष येनेव शब्दः सम्भावनापरः ॥'

यहाँ 'इव' शब्द साधर्म्य का वाचक है।

कवि एक-दूसरे के अंशुओं से मिश्रित उन दोनों के एकवर्णत्व का वर्णन करता है :—

प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः
शुभैश्च सप्तच्छदपांशुपाण्डुभिः।
परस्परेण च्छुरितामलच्छवी
तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः ॥२३॥

अन्वय—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः, सप्तच्छदपांशुपाण्डुभिः, च, शुभैः, अभीपुभिः, परस्परेण, छुरितामलच्छवी, तौ, तदा, एकवर्णौ, इव, बभूवतुः ॥२२॥

अनुवाद विकसित तमालपुष्प के सदृश (श्यामवर्ण) किरणों से तथा सप्तच्छद (छितौन) पुष्प के सदृश गौरवर्ण किरणों से परस्पर मिश्रित (रञ्जित) निर्मल कान्तिवाले वे दोनों उस समय एकवर्णवाले-से हुए ॥२२॥

सर्वङ्कषा—प्रफुल्लेति ।। प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं विकसितम् । 'फुल्ल विकसने' इति धातोः पचाद्यजन्तम् ।' फलेर्निष्ठायाम् 'अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इतिनिपातनात् प्रफुल्लमित्येवेति क्षीरस्वामी । तापिच्छस्य तमालस्य पुष्पं तापिच्छम् । 'फले लुक्' इति तद्धितलुक् । 'व्रीहीनं प्रसवे सर्वम्' इति नपुंसकत्वम् । 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । तेन सदृशैः प्रफुल्लतापिच्छनिभैः । नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः । अत एव 'स्युरुत्तरपदे त्वमी' इति, निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः । सप्तच्छदाः पर्णानि पर्वसु यस्येति सप्तच्छदो वृक्षभेदः । 'सप्तपर्णो विशालत्वक्शारदोविपमच्छदः' इत्यमरः । सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविपये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवदित्युक्तं भाष्ये । शेप तापिच्छवत् । तस्य पुष्पाणि सप्तच्छदानि तेषां पांशुवत् पाण्डुभिः शुभैरभीपुभिरन्योन्यरश्मिभिः 'अभीपुः प्रग्रहे रश्मौ' इति शाश्वतः । परस्परेण छुरिते रूपिते अमले छवी अन्योन्यकान्ती ययोस्तौ । छव्योरभीपूणावयवावयविभावाद् भेदनिर्देशः । तौ हरिनारदौ तदैकवर्णाविव बभूवतुः । उभयप्रभामेलनादुभयोरपि सर्वाङ्गीणो गंगायमुनासंगम इव स्फटिकेन्द्रनीलमणिप्रभामेलनप्रायः कश्चिदेको वर्णः प्रादुर्बभूव । तन्निमित्ता चेयमनयोरेकवर्णत्वोत्प्रेक्षा ॥२२॥

सारग्राहिणी—(१) प्रफुल्लतापिचछनिभैः = विकसित तमाल के सदृश। यह 'अभीपुभिः' का विशेपण है। प्रफुल्ल + तापिच्छ + निभ। प्रफुल्लति = विकसति इस अर्थ में प्र + √फुल्ल + अच् (कर्तरि)। 'तापिच्छ' शब्द से यहाँ पुष्प लेना चाहिए, तापिच्छ वृक्ष का विकार इस अर्थ में तापिच्छ + अण् = तापिच्छम्, (न० पुं०)। निम—सदृशार्थक शब्द है। यहाँ 'उपमा' है। तापिच्छ के बारे में वल्लभदेव लिखते हैं—'तापिच्छं कालाञ्जनिकं तमालं वा ......यद्वा तापिच्छः काकतुण्डिका।'

( २ ) सप्तच्छदपांशुपाण्डुभिः—छितौनी के पुष्पपराग के सदृश श्वेत। यह भी 'अभीषुभिः' का विशेषण है। इस वृक्ष के प्रत्येक गुच्छ में सात पत्र होने से इसे 'सप्तच्छद' कहा गया है। सप्तच्छद + अण् (विकारार्थ में) = सप्तच्छदम्। सप्त + छद के बीच तुकागम हुआ है ( छे च )।

यहाँ भी उपमा अलंकार है। पहले पद में 'श्यामवर्ण' को लेकर सादृश्य है; यहाँ 'श्वेतवर्ण' को लेकर सादृश्य है।

( ३ ) शुभ्रैः—सुन्दर, श्वेत। तृ० ब० व०। Adjective to 'अभीषु' √शुभ + क = शुभ। वल्लभदेव लिखते हैं—शुभैः चारुभिः अनुपहतैर्वा पापक्षयकरैर्वा। मल्लिनाथ इसका अर्थ 'श्वेत' लेते हैं।

( ४ ) अभीषुभिः = किरणों से। यहाँ करणार्थ में तृतीया हुई है। S. R. Ray लिखते हैं—करण of the क्रिया in छुरित।

( ५ ) परस्परेण—श्रीकृष्ण तथा नारद एक-दूसरे की किरणों से मिश्रित कान्ति हो रहे हैं, अतः, यहाँ 'कर्मव्यतिहार' होने से ( पर—सर्वनाम को ) द्वित्व हुआ है 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्' ( वार्तिक )।

( ६ ) छुरितामलच्छवी—छुरित + अमल + छवि। यह 'तौ' का विशेषण है। √छुर + क्त ( मिश्रणार्थ में ) = छुरित। यहाँ भी अमल + छवि के बीच 'तुकागम' हुआ है।

( ७ ) तौ = श्रीकृष्ण तथा नारद।

( ८ ) तदा = जब दोनों एक-दूसरे के सामने बैठे हुए थे, उस समय।

( ९-१० ) एकवर्णौ इव—एक ( समान ) वर्णवाले से। यहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है, क्योंकि दोनों एक नये वर्णवाले हुए हैं, अतः दोनों में एक वर्णत्व की सम्भावना की गयी है। मल्लिनाथ लिखते हैं—'उभयप्रभामेलनादुभयोरपि ...... कश्चिदेको वर्णः प्रादुर्बभूव।'

(११) बभूवतुः—√भू + लिट्, प्र० पु० द्वि० व०।

व्याकरण—प्रभुल्लतापिच्छनिभैः—प्रफुल्लतापिच्छेन सदृशैः, इस अर्थ में नित्य समास है। मल्लिनाथ भी यही लिखते हैं—'नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः।'

क्योंकि, निभ संकाश आदि शब्द समस्त रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। यहाँ 'प्रफुल्लतापिच्छस्य निभैः' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष है।

**सप्तच्छदपांशुपाण्डुभिः**—सप्तच्छदस्य विकारः ( पुष्पं ) सप्तच्छदं तस्य पांसवः इव: पाण्डवः तैः ( तत्पुरुष )।

**चच्छुरितामलच्छवी**—अविद्यमानो मलो यस्यां सा अमला ( छविः ); छुरिते अमले छवी ययोः तौ ( बहु० )।

**कोश**—'द्विहीनं प्रसवे सर्वम्', 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात् तापिच्छोऽपि', 'स्युरुत्तरपदे त्वमी', 'निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः', 'सप्तपर्णो विशालत्वक्शारदोविषमच्छदः', 'पांशुर्ना न द्वयो रजः'—इति च अमरः। 'अभीपुः प्रग्रहे रश्मौ' इति शाश्वतः।

कवि महर्षि नारद के समागम से श्रीकृष्ण को होनेवाले आनन्द का वर्णन करते हैं—

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो
जगन्ति यस्यां सविकाशमासत[१]।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विष-
स्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥२३॥

**अन्वय**—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः, कैटभद्विषः, यस्यां, तनौ, जगन्ति, सविकाशं, आसत, तत्र, तपोधनाभ्यागमसम्भवाः, मुदः, न, ममुः ॥२३॥

**अनुवाद**—युग के अन्त में = प्रलयकाल में अपने में सब जीवों को समेटने वाले हरि के जिस शरीर में चतुर्दश भुवन विस्तारपूर्वक टिके रहे, ( हरि के ) उस शरीर में महर्षि के आगमन से उत्पन्न हर्ष नहीं समाया ॥२३॥

**सर्वङ्कषा**—युगान्तेति ॥ युगान्तकाले प्रतिसंहृतात्मनः आत्मनि उपसंहृता आत्मानो जीवा येन तस्य कैटभद्विषो हरेर्या तनौ जगन्ति सविकासं सविस्तरमासतऽतिष्ठन्। 'आस उपवेशने' लङ्। तत्र तनौ देहे तपोधनाभ्यागमसं

१. 'सविकाससमासत' पाठ अधिक अच्छा है।

सम्भवन्तीति सम्भवाः सम्भूताः । पचाद्यच् । मुदः सन्तोष न ममुः । अतिरिच्यन्ते स्मेत्यर्थः । चतुर्दशभुवनपर्याप्ते वपुषि अन्तर्नमान्तीति कविप्रौढोक्ति सिद्धातिशयेन स्वतः सिद्धस्याभेदेनाध्यवसितातिशयोक्तिः । सा च मुदामन्तः सम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्त्या सम्बन्धासम्बन्धरूपा ॥२३॥

**सारग्राहिणी**—( १ ) **युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः**—युग के अन्त के समय उपसंहृत किये जीवात्माओंवाले के । 'कैटभद्विपः' का विशेषण है । युग + अन्त =युगान्त; युग चार हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलि । प्रति + सम् + √हृञ् हरणे धातु + क्त ( कर्मणि ) = प्रतिसंहृत । आत्मन् = जीवात्मा अथवा देह । 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्वः । युगान्तकाल का अर्थ प्रलयकाल लिया गया । 'प्रलय के समय कूर्मवृत्ति से समेटे हुए स्वरूपवाले के' यह अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है । S. R. Ray भी लिखते हैं—This is a better explanation.

( २ ) **कैटभद्विषः**—कैटभ दैत्य के शत्रु अर्थात् हरि के । इसका सम्बन्ध 'तनौ' से है । प्रलय के समय कैटभ नामक दैत्य को मारने के कारण श्रीकृष्ण को 'कैटभद्विष्' कहा गया है; ष० ए० व० । इस नाम से प्रलय के समय श्रीकृष्ण की सत्ता तथा तद्द्वारा कैटभ का वध सूचित होता है । यहाँ विशेष्य साभिप्राय होने से परिकरांकुर अलंकार है ।

( ३ ) **यस्यां तनौ**—जिस शरीर में । यद्यपि द्वापर-युग में अवतार लिये हुए श्रीकृष्ण का शरीर भिन्न प्रतीत हो रहा है तथापि प्रलय के समय भी सत्तावान् 'कैटभद्विष्' और श्रीकृष्ण अभिन्न होने से 'जिस शरीर में' ऐसा कहा गया है ।

( ४ ) **जगन्ति**—चतुर्दश भुवन । 'जगत्' का, प्र० ब० व० । चतुर्दश भुवन ये हैं—

अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल तथा भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् । अन्य वर्गीकरण के अनुसार जगत् पद से—पाताललोक, मृत्युलोक तथा स्वर्ग लिया जा सकता है ।

( ५ ) **सविस्तरम्**—विस्तारपूर्वक । यह 'क्रिया-विशेषण' है; इसका

सम्बन्ध आस् ( आसत ) क्रिया से है। वि + कस् + घञ् = विकास; विकास के सहित = 'सविकासम्।'

( ६ ) आसत—अवस्थित रहे, टिके रहे। इसका कर्ता 'जगन्ति' है। आस उपवेशने धातु + लङ्, प्र० पु० व०।

( ७ ) तत्र—वहाँ, उस शरीर में। यह अव्यय शब्द यत् से सम्बद्ध होने के कारण [ यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः ] शरीर की ओर संकेत करता है।

( ८ ) तपोधनाभ्यागमसम्भवा :—तपस्वी (महर्षि) के आगमन से उत्पन्न। यह 'मुदः' का विशेषण है। अभ्यागम—अभि + आ + √गम् + अप्। ( भावे )।

सम्भव—सम् + √भू + अच् ( कर्तरि )। महान् तपस्वी होने के कारण 'तपोधन' शब्द महर्षि नारद के लिए प्रयुक्त हुआ है।

( ९ ) मुदः—हर्ष; प्र० व० व०। यहाँ 'मुत्' बहुवचन का प्रयोग होने के कारण तथा 'तनौ' एकवचन होने के कारण आधार की अपेक्षा आधेय अधिक होने से वल्लभदेव 'अधिक' अलंकार मानते हैं—'अधिक नामाऽयमलंकारः।'

( १० ) न ममुः—नहीं समाया। इसका कर्ता 'मुदः' व० व० होने के कारण यह क्रिया व० व० प्रयुक्त हुई है। √मा + लिट्, प्र० पु० व० व०।

व्याकरण—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः—युगानामन्तः युगान्तः, युगान्तस्य कालः युगान्तकालः; तस्मिन् प्रतिसंहृता; आत्मनः येन सः तस्य ( बहु० )। तपोधनाभ्यागमसम्भवाः—तपः एव धनं यस्य सः तस्य अभ्यागमेन सम्भवः यासां ताः ( बहु० )।

कोश—'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्वः। 'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्', 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः', 'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्मदाः—इति च अमरः।

अलंकार—यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार ( सम्बन्धेऽसम्बन्धरूप ) है, मल्लिनाथ लिखते हैं—'सा च मुदामन्तःसम्बन्धेऽपि असम्बन्धोक्त्या सम्बन्धासम्बन्धरूपा। वल्लभदेव यहाँ अधिक अलंकार मानते हैं।

महाकवि माघ सूर्य-तुल्य महर्षि के समक्ष विकसित नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण के 'पुण्डरीकाक्ष' नाम की सार्थकता वतलाते हैं—

निदाघधामानमिवाधिदीधितिं
मुदा विकासं मुनिमभ्युपेयुषी ।
विलोचने बिभ्रदधिश्रितश्रिणी
स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत् ॥२४॥

अन्वय—निदाघधामानं, इव, अधिदीधिति, मुनिं, ( अभिलक्ष्य ), मुदा, विकासं, अभ्युपेयुषी, अधिश्रितश्रिणी, विलोचने, बिभ्रत, सः, पुण्डरीकाक्षः, इति, स्फुटः, अभवत् ॥२४॥

अनुवाद—सूर्य के समान अत्यन्त तेजस्वी महर्षि नारद को लक्ष्यकर हर्ष से विकास को प्राप्त हुए तथा शोभायुक्त हुए नेत्रों को धारण करते हुए हरि 'पुण्डरीक के समान नेत्रवाले' ऐसे स्पष्ट, सार्थक नामवाले हुए ॥२४॥

सर्वङ्कषा—निदाघेति ॥ निदाघमुष्णं धाम किरणो यस्य तथोक्तम् । 'निदाघो ग्रीष्मकाले स्यादुष्णस्वेदाम्बुनोरपि' इति विश्वः । अर्कमिवाधिदीधितिमधिकतेजसं मुनिमभिलक्ष्य । 'अभिरभागे' इति लक्षणे कर्मप्रवचनीयसंज्ञा 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ।' मुदा विकासमभ्युपेयुषी उपगते । क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । अतएव अधिश्रिता प्राप्ता श्रीर्याभ्यां ते तथोक्ते । 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमागमः । विलोचने बिभ्रत् । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः । स हरिः पुण्डरीकाक्ष इत्येवं स्फुटोऽभवत्, सूर्यसन्निधाने श्रीविकासभावादक्ष्णां पुण्डरीकसाधर्म्यात् । पुण्डरीके इवाक्षिणी यस्येत्यवयवार्थलाभे पुण्डरीकाक्ष इति व्यक्तम् । अन्वर्थसंज्ञोऽभूदित्यर्थः । बिभ्रत् स्फुटोऽभवदिति पदार्थहेतुकस्य काव्यलिङ्गस्य निदाघधामानमिवेत्युपमा-सापेक्षत्वादनयोरंगांगिभावेन संकरः ॥२४॥

सारग्राहिणी—( १ ) निदाघधामानमिव—सूर्य के समान । 'मुनि' का विशेषण है । निदाघ + धामन् = सूर्य; निदाघम्—गर्म, धाम—तेज किरणवाला नि + √दह् + घञ् ( करण अर्थ में ) = निदाघ । यहाँ सूर्य के साथ नारदमुनि

की उपमा की गयी है; इसमें अग्रिम पद का अधिदीधितित्व = अधिक किरणोंवाला होना साधारण धर्म है।

( २ ) अधिदीधितिम्—अधिक किरणोंवाले, तेजवाले। यह भी 'मुनिम्' का विशेषण है। अधिगत की है दीधिति = किरणें जिसने उसे ( वहु० )।

( ३ ) मुनिम् + अभि—महर्षि की ओर, महर्षि को लक्ष्यकर अवस्थित। यहाँ अभि का अर्थ 'अभिलक्ष्य' लिया गया है। 'अभि' यहाँ कर्मप्रवचनीय के रूप में है। ( ऽभिरभागे 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' )।

( ४ ) मुदा—हर्ष से। यह हर्ष मुनि-समागम से जन्य है। 'मुत्', तृ० ए० व०।

( ५ ) विकासम् + उपेयुषी—विस्तार को प्राप्त हुए। यह 'विलोचने' का विशेषण है। उपेयुषी = उप + √इण् + लिट् के अर्थ में क्वसु 'उपेयिवस्' का नपुं० द्वि० द्वि० व०।

( ६ ) अधिश्रितश्रिणी—प्राप्त की हुई शोभावाले। यह भी 'विलोचने' का विशेषण है। अधिश्रित = अधि + √श्री + क्त ( कर्मणि )।

( ७ ) विलोचने—दो नेत्रों को। 'विलोचन', नपुं० द्वि० द्वि० व०।

( ८ ) बिभ्रत्—धारण करते हुए। यह 'सः' का विशेषण है। √भृ + शतृ ( कर्तरि )। यहाँ अभ्यस्त ( द्विरुक्ति ) होने से 'नाभ्यस्ताच्छतुः' से नुम् का निषेध हुआ है।

( ९ ) सः—वह, श्रीकृष्ण।

( १० ) पुण्डरीकाक्षः—कमल के समान नेत्रोंवाले। पुण्डरीक श्वेतकमल को कहा जाता है—'पुण्डरीकं सिताम्भोजम्'। पुण्डरीक के समान नेत्र हैं जिसके ( वह )—बहुव्रीहि।

( ११ ) इति स्फुटोऽभवत्—इस प्रकार स्पष्ट नामवाले हुए। तात्पर्य यह है—जिस प्रकार सूर्य के समागम ( उदय ) से श्वेतकमल विकसित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के नेत्र महर्षि को लक्ष्यकर, उनके समक्ष विकास को प्राप्त हुए; अतः श्रीकृष्ण 'पुण्डरीक के समान नेत्रवाले' इस सार्थक नामवाले हुए।

व्याकरण—'मुनिम् अभि' यहाँ अभि 'कर्मप्रवचनीय' है; इसका लक्षण ऐसा कहा गया है—

'क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः ।
नापि क्रियापदापेक्षी सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥'

कोश—'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः', लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी'—इति च अमरः ।

अलंकार—'निदाघधामानमिव' तथा 'पुण्डरीकाक्षः' इन दो स्थलों में उपमा अलंकार है ।........'विलोचने विभ्रंत्' 'पुण्डरीकाक्ष' इस प्रकार सार्थक नामवाला होने में हेतु होने से पदार्थहेतुक 'काव्यलिंग' है । यहाँ उक्त काव्यलिंग 'निदाघधामानमिव' इस उपमा की अपेक्षा रखता है; अतः यहाँ अङ्गाङ्गिभाव संकर है। देखिये मल्लिनाथ—'विभ्रत्स्फुटोऽभवदि त पदार्थहेतुकस्य काव्यलिङ्गस्य निदाघधामानमिवेत्युपमा सापेक्षत्वादनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ।'

महर्षि नारद से श्रीकृष्ण ने बात कही, यह वर्णन करते हैं—

सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपु-
विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन् ।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः
शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः ॥२५॥

अन्वय—अथ, अच्युतः, विसारिभिः, द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः, सितं, मुनेः, वपुः, सौधं, इव, सुतरां, सितिम्ना, लम्भयन्, शुचिस्मितां, वाचं, अवोचत् ॥२५॥

अनुवाद—इसके अनन्तर श्रीकृष्ण ने प्रसरणशील दन्तपंक्ति के व्याज से अवस्थित चन्द्रमा की किरणों द्वारा स्वभावतः श्वेत मुनि के शरीर को चूने से लिप्त राजभवन के समान और अधिक श्वेतता को प्राप्त कराते हुए मन्दश्वेत हास्य से युक्त वाणी को कहा ।२५॥

सर्वङ्कषा—सितमिति ॥ अथोभयोरुपवेशनानन्तरमच्युतो हेतुकर्ता विसारिभिरभीक्ष्णं प्रसरद्भिः । 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति णिनिः । द्विजावलिर्दन्तपंक्तिः ।

'दन्तविप्राण्डजाद्विजाः' इत्यमरः। सैव व्याजः कपटं यस्य सः। तद्रूप इत्यर्थः। स चासौ निशाकरश्च तस्यांशुभिः किरणैः सितं स्वभावशुभ्रं मुनेर्वपुः सौधं प्रासादमिव सुतरामत्यन्तम्। अव्ययाद्धादाम् प्रत्ययः (अव्ययादाम् प्रत्ययः)। सितिम्ना धावल्येन प्रयोज्यकर्त्रा लम्भयन् व्यापारयन्। अतिधवलयन्नित्यर्थः। लभेरत्र गत्युपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वेनागत्यर्थत्वाद् 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणि कर्तुर्न कर्मत्वम्। तथाह वामनः—'लभेर्गत्यर्थवाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे' इति। प्राप्त्युपसर्जनगत्यर्थत्वे तु कर्मत्वमेवेति रहस्यम्। 'लभेश्च' इति नुमागमः। शुचिस्मितां वाचमवोचदुक्तवान्। ब्रुवो वच्यादेशः लुङ्, वचउम् इत्युमागमेगुणः। अत्र सौधमिवेत्युपमायाः सितिम्ना लम्भयन् इत्यसम्बन्धरूपातिशयोक्तेर्द्विजावलिव्याजनिशाकरेतिच्छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादनरूपापह्नवस्य च मिथो नैरपेक्ष्यात् संसृष्टिः ॥२५॥

**सारग्राहिणी**—(१) अथ—इसके बाद। अर्थात् नारद महर्षि तथा श्रीकृष्ण के बैठने के बाद।

(२) अच्युतः—श्रीकृष्ण। जो कभी भी अपने कर्तव्य से च्युत नहीं है, वह अच्युत है। इस शब्द की ध्वनि है कि श्रीकृष्ण सदैव स्वकर्तव्य के प्रति जागरूक रहते हैं।

(३) विसारिभिः—प्रसरणशील। वि + √सृ + णिनि (आभीक्ष्ण्य अर्थ में) विसारिन्, तृ० ब० व०। 'अंशु' का विशेषण है।

(४) द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः—दन्तपंक्ति के बहाने से अवस्थित चन्द्रमा की किरणों से। दो बार उत्पन्न होने से (पहले दूध के दाँत तथा उनके गिरने के बाद पुनः दूसरे दाँत उत्पन्न होते हैं) दाँतों को 'द्विज' कहा जाता है। यहाँ दन्तपंक्ति में दन्तपंक्तित्व धर्म को छिपाया गया है तथा व्याज शब्द का प्रयोग करके उसमें (द्विजावलि में) निशाकरत्व का आरोप किया गया है; अतः, यहाँ 'कैतवापह्नुति' अलंकार है।

(५) सितं—श्वेत। √सो + क्त (कर्मणि)। यह 'वपुः' का विशेषण है।



(६) मुनेः वपुः—महर्षि नारद के शरीर का।

( ७ ) सौधम् + इव—चूने से लिपे हुए राजभवन के समान। यहाँ महर्षि के शरीर को चूने से लिपे हुए भवन के समान कहा जा रहा है; अतः, यहाँ उपमा अलंकार है।

( ८ ) सुतराम्—और अधिक। सु + तर + आम्। यह 'लम्भयन्' में की 'लभि' क्रिया का विशेषण है।

( ९ ) सितिम्ना—श्वेतता से।

( १० ) लम्भयन्—प्राप्त कराते हुए। √लभ् + णिच् + शतृ ( कर्तरि )। यह 'अच्युतः' का विशेषण है।

( ११ ) शुचिस्मिताम्—श्वेत तथा पवित्र मन्द हास्य से युक्त। यह 'वाचम्' का विशेषण है। स्मित = स्मि + क्त ( भावे )।

( १२ ) वाचम् + अवोचत्—बात कही। इसका कर्ता 'अच्युतः' है। अवोचत् = √ब्रू अथवा वच + लुङ्, प्र० पु० ए० व०।

व्याकरण—द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः—द्विजानामावलिः = द्विजावलिः सा एव व्याजः स चासौ निशाकरश्च तस्य ये अंशवः तैः (तत्पुरु०)। सितिम्ना—सित + इमनिच् = सितिमन्, तृ० ए० व०।

कोश—'मंगलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' पीताम्बरोऽच्युतः शार्ङ्गी', 'दन्त विप्राण्डजाद्विजाः'; 'किरणोऽस्रमयूखांशु गभस्तिघृणिरश्मयः', गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः', 'सौधोऽस्त्री राजसदनम्', 'गीर्वाग्वाणी'—इति च अमरः।

अलंकार—यहाँ 'सौधमिव' इस उपमा की, 'सितिम्ना लम्भयन्' इस असम्बन्ध में सम्बन्धरूप अतिशयोक्ति की तथा 'द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः' इस कैतवापह्नुति की परस्पर निरपेक्ष भाव से स्थिति रहने से 'तिलतण्डुल' न्याय से संसृष्टि है।

श्रीकृष्ण महर्षि नारद के दर्शन का महत्त्व बतलाते हैं—

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः
शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं
व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥२६॥

अन्वय—भवदीयदर्शनं, शरीरभाजां, कालत्रितये, अपि, योग्यतां, व्यनक्ति, सम्प्रति, अघं, हरति, एष्यतः, शुभस्य, हेतु, पूर्वाचरितैः, शुभैः, कृतम् ॥२६॥

अनुवाद—आपका दर्शन शरीरधारियों की त्रिकाल ( वर्तमान, भविष्यत् तथा भूतकाल ) में भी योग्यता को व्यक्त करता है। ( भवदीयदर्शन ) वर्तमान में पाप को हरता है; आनेवाले शुभ का हेतु है; पहले आचरण किये हुए शुभ कर्मों से सम्पादित है ॥२६॥

सर्वङ्कषा—हरतीति ॥ भवदीयदर्शनं शरीरभाजाम् । द्रष्टॄणामित्यर्थः । भजो ण्विः । कालत्रितये भूतादिकालत्रितयेऽपि योग्यतां पवित्रतां व्यनक्ति गमयति । कुतः—सम्प्रति दर्शनकाले अघं पापं हरति । एष्यतो भाविनः शुभस्य श्रेयसो हेतुः । तथा पूर्वाचरितैः प्रागनुष्ठितैः शुभैः सुकृतैः कृतम् । एवं त्रैकाल्येऽपि कार्यत्वेन कारणत्वेन च पुंसि सुकृतसमवायमवगमयते । अत एतादृशं दर्शनं कस्य न प्रार्थ्यमिति भावः । अत्र हरतीत्यादिवाक्यत्रयस्यार्थस्य शरीरेत्यादिवाक्यत्रयोवत्यावाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २६ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) भवदीयदर्शनं—आपका दर्शन। भाति इति भा + डवतु = भवान्, भवतः इदं ( आपका यह ) इस अर्थ में भवत् + छ ( ईय ) = भवदीयम्; दृश् + ल्युट् ( भावे ) = दर्शनम् । आप हैं विषय ( कर्म ) जिसके ऐसा दर्शन ।

( २ ) शरीरभाजाम्—शरीरधारियों की ( आपको देखनेवालों की )। शरीर + भज् + णिच् ( कर्तरि ) = शरीरभाक्, ष० ब० व० ।

( ३ ) कालत्रितयेऽपि—त्रिकाल में भी । त्रि + तयप् = त्रितयम्, कालानां त्रितयं तस्मिन् ।

( ४ ) योग्यताम्—योग्यता को, पवित्रता को । योग्यता, द्वि० ए० व० । योक्तुमर्हः इस अर्थ में युज् + ण्यत् = योग्य; योग्यस्य भावः इस अर्थ में तल् प्रत्यय तथा स्त्रीलिंग की विवक्षा में 'टाप्' = योग्यता ।

( ५ ) व्यनक्ति—प्रकट करता है । वि + √अञ्ज् + लट्, प्र०पु० ए०व० ।

( ६ ) सम्प्रति—वर्तमान समय में । वर्तमानार्थक अव्यय ।



( ७ ) अघम्—पाप को, पापसमूह को । पाप की पापसमूह में लक्षणा ।

( ८ ) हरति—नष्ट करता है। इस हरण-क्रिया का कर्ता 'भ० दर्शन' है तथा कर्म 'अघ' है।

( ९ ) एष्यतः—आनेवाले के ( भविष्यत् में के )। एष्यत्, ष० ए० व०। √इण् + लुट् + शतृ = एष्यत्।

( १० ) शुभस्य—शुभ का, कल्याण का। शोभित होना इस अर्थ में √शुभ + क ( कर्तरि )। ष० ए० व०।

( ११ ) हेतुः—कारण है। यहाँ अस्ति क्रिया का अध्याहार किया जाता है। यह हेतु पद 'भ० दर्शन' की विशेषता बतला रहा है। अर्थात् 'आपका दर्शन भावि शुभ का हेतु है।'

( १२ ) पूर्वाचरितैः—पहले आचरण किये हुए। यह 'शुभैः' का विशेषण है। पूर्व + आचरित; आ + √चर् + इ + क्त ( कर्मणि )। 'भूतपूर्वे चरट्' ज्ञापक है; और 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' अर्थात् 'ज्ञापक से सिद्ध प्रयोग सर्वत्र नहीं होता' इस नियम के रहने से यहाँ 'भूतपूर्वः' के समान प्रयोग नहीं हुआ, अपितु 'पूर्व' शब्द 'आचरित' शब्द के पहले प्रयुक्त हुआ है।

( १३ ) शुभैः—सत्कर्मों से, तज्जन्य पुण्यों से। तृ० ब० व०।

( १४ ) कृतम्—सम्पादित है। यह 'भ० दर्शनम्' की विशेषता बतला रहा है।

**व्याकरण**—शरीरं भजन्ते इति शरीरभाजः तेषां शरीरभाजाम् ( उपपद तत्पु० )। कृतम् = √कृ + क्त।

**कोश**—'कालो दिष्टोऽप्यनेहाऽपि समयः', 'कलुषं वृजिनैनोऽघमंहो दुरितदुष्कृतम्', 'श्वः श्रेयसं शुभं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्', 'हेतुर्ना कारणं बीजम्'—इति च अमरः।

**अलङ्कार**—यहाँ 'सम्प्रति अघं हरति', 'एष्यतः शुभस्य हेतुः' और पूर्वाचरितैः शुभैः कृतम्' ये तीनों वाक्यों का अर्थ 'भ० दर्शनं शरीरभाजां कालत्रितयेऽपि योग्यतां व्यनक्ति' इस वाक्यार्थ में हेतु है; अतः, यहाँ वाक्यार्थहेतुक 'काव्यलिंग अलङ्कार' है।

अब श्रीकृष्ण नारदमुनि को सूर्य की अपेक्षा अधिक बतलाते हैं—

जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना,
न यन्नियन्तुं समभावि भानुना ।
प्रसह्य तेजोभिरसंख्यतांगतै-
रदस्त्वयानुन्नमनुत्तमं तमः ॥ २७ ॥

**अन्वय**—जगति, अपर्याप्तसहस्रभानुना, भानुना, यत्, ( तमः ) नियन्तुं, न, समभावि, अनुत्तमं, अदः, तमः, असंख्यतां, गतैः, तेजोभिः प्रसह्य, त्वया, नुन्नम् ॥ २७ ॥

**अनुवाद**—संसार में सर्वत्र न भर सकनेवाले सहस्र किरणोंवाले सूर्य के द्वारा जो तम ( अज्ञानरूपी अन्धकार ) निवारण नहीं किया जा सका, वह सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ यह तम असंख्यता को प्राप्त हुए तेजों ( ज्ञानमय तेजों ) द्वारा जबर्दस्ती आप द्वारा निवारण ( नष्ट ) किया गया ॥ २७ ॥

**सर्वङ्कषा**—जगतीति ॥ जगत्यपर्याप्ता अपरिच्छन्नाः सहस्रं भानवोंऽशवो यस्य तेन भानुनार्केण 'भानवोऽर्कहरांशवः' इति वैजयन्ती । यत् तमो नियन्तुं निवारयितुं न समभावि न शेके । भावे लुङ् । अविद्यमानमुत्तमं यस्मात् तदनुत्तमं सर्वाधिकमदस्तमो मोहात्मकमसंख्यतां गतैस्तेजोभिः प्रसह्य बलात् त्वया नुन्नं छिन्नम् । अतः श्लाघ्यदर्शनो भवानिति भावः । 'नुदविद'—इत्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्त्वभावः । अत्रोपमानाद् भानोर्मुनेराधिक्यप्रतिपादनाद् व्यतिरेकालङ्कारः ॥ २७ ॥

**साहग्राहिणी**—( १ ) जगति—संसार में । जगत्, नपुं० स० ए० व० ।

( २ ) अपर्याप्तसहस्रभानुना—सर्वत्र न भर सकनेवाले सहस्र किरणोंवाले । यह 'भानुना' का विशेषण है । परि+√आप + क्त ( कर्मणि ) = पर्याप्त + सहस्र + भानु ( किरण ) ।

( ४ ) भानुना—सूर्य द्वारा । भानु, तृ० ए० व० ।

( ४ ) यत् तमः—जो ( अज्ञानरूपी ) अन्धकार । यहाँ 'तमस्' शब्द का लक्षणा से 'अज्ञानरूपी अन्धकार' अर्थ लिया गया है; यह 'गौणी' है; इसमें 'पदार्थविस्व' सादृश्य है ।

( ५ ) नियन्तुम्—निवारण ( करने के लिए )। नि + √यम् + तुमुन् ( भावे )।

( ६ ) न समभावि—नहीं किया जा सका। अर्थात् जिस अज्ञानान्धकार को सूर्य दूर करने में समर्थ नहीं हुआ। समभावि—सम् + √भू + लुङ् ( भावे ) प्र० पु० ए० व०।

( ७ ) अनुत्तमम्—जिससे अधिक श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, सर्वश्रेष्ठ अज्ञानान्धकार का अनुत्तमत्व स्वकार्य साधक होने से, पापरूप होने से ( निकृष्टार्थ में ) विवक्षित है—ऐसा वल्लभदेव का अभिमत है। यह 'तमः' का विशेषण है।

( ८ ) अदः तमः—यह अज्ञानात्मक अन्धकार। यह नुदक्रिया का कर्म है।

( ९ ) असंख्यतां गतैः—असंख्यता को प्राप्त हुए। यह 'तेजोभिः' का विशेषण है। तात्पर्य यह है कि महर्षि नारद के तेज इतने अधिक हैं कि वे परार्ध संख्या से भी परे हो गये हैं तथा अगणनीय हुए हैं।

( १० ) तेजोभिः—नारदसम्बन्धी तेजों द्वारा। यह 'नुद' क्रिया का करण है। तेजस्, तृ० ब० व०।

( ११ ) प्रसह्य—बलात्, जबर्दस्ती। अव्यय।

( १२ ) त्वया—तुम्हारे द्वारा, आप द्वारा। यह 'युष्मद्' शब्द का तृ० ए० व०। महर्षि नारद के लिए आया है; अतः, आदर सूचित करने के लिए इसका अर्थ 'आप' किया गया है। देखिये मल्लिनाथ—'अतः श्लाघ्यदर्शनो भवानिति भावः।'

( १३ ) नुन्नम्—निवारण ( नष्ट ) किया गया। √नुद + क्त ( कर्मणि )। 'नुद विद उन्द घ्रा ह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्' से 'त' को 'न' हुआ है।

व्याकरण—अपर्याप्तसहस्रभानुना—न पर्याप्तम् अपर्याप्तम् अपर्याप्ताः सहस्रं भानवः यस्य सः तेन ( बहु० )। अनुत्तमम्—न विद्यते उत्तमं यस्मात् तदनुत्तमम् ( नञ् तत्पु० )।

कोश—'लोको विष्टपं भुवनं जगत्', 'भानुः करो मरीचिः', 'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः', 'राहौ ध्वान्ते गुणे तमः'—इति च अमरः।

अलङ्कार—यहाँ 'जो अज्ञानान्धकार सूर्य द्वारा नष्ट नहीं किया जा सका, वह आप द्वारा नष्ट किया गया, आपके तेज असंख्य हैं, सूर्य के तेज जगत् में सर्वत्र न भर सकनेवाले हैं'—इस अर्थ में उपमान सूर्य की अपेक्षा उपमेय नारदमुनि का आधिक्य वर्णन किया गया है; अतः व्यतिरेक अलंकार है। व्यतिरेक का लक्षण इस प्रकार है—'व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः' (चन्द्रालोक)। सूर्य की किरणें गुफाओं, विलों आदि में नहीं जा सकतीं। जगत् का अर्थ गिरिगह्वरादि भी है—"जगच्छब्देन गिरिगह्वरादयोऽपि पदार्था उच्यन्ते (वल्लभदेव)।"

तम—अन्धकार (सामान्य अर्थ में) यहाँ प्रकरण से अज्ञानरूपी अन्धकार।
भानु—किरण, सूर्य।

श्रीकृष्ण महर्षि नारद को वेदों का अक्षय निधि वतलाते हैं—

कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा
सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना।
सदोपयोगेऽपि गुरुस्त्वमक्षयो
निधिः श्रुतीनां धनसम्पदामिव ॥ २८ ॥

अन्वय—प्रजाक्षेमकृता, सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना, प्रजासृजा, त्वं, धनसम्पदां, इव, श्रुतीनां, सदा, उपयोगे, अपि, अक्षयः, गुरुः, निधिः, कृतः ॥ २८ ॥

अनुवाद—प्रजा का कल्याण करनेवाले एवं सुयोग्य पात्र में (अपना निधि) रखने के कारण स्वस्थ चित्तवाले ब्रह्मा द्वारा आप धनसम्पत्ति के समान वेदों के सदा उपयोग किये जाने पर भी क्षीण न होनेवाले महान् निधि वनाये गये हैं ॥ २८ ॥

यहाँ प्रजा.........., प्रजासृजा, 'गुरु तथा सुपात्र' शब्द श्लिष्ट हैं, पक्षान्तर में इनका अर्थ है—'सन्तान, पिता, उपदेशक तथा तिजोरी आदि अच्छा पात्र (निधि रखने योग्य)।'

सर्वङ्कषा—क्षेमकृतेति ॥ प्रजानां जनानामपत्यानां च क्षेमकृता कुशलकारिणा 'प्रजास्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः। सुपात्रे योग्यपुरुषे कटाहादिदृढभाजने च निक्षेपेण निधानेन निराकुलात्मना स्वस्थचित्तेन 'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इत्यमरः। प्रजासृजा ब्रह्मणा पुत्रिणा च त्वं धनसम्पदामिव श्रुतीनां वेदानां सदोपयोगे दानभोगाभ्यां व्ययेऽत्यक्षयः। एकत्राम्नानादन्यत्रानन्त्याच्चेति भावः। गुरुरुपदेष्टा सम्प्रदायप्रवर्तक इति यावत्, अन्यत्र महान्। निधीयत इति निधिः निक्षेपः कृतः। उपसर्गे घोः किः। श्रुतिसम्प्रदायद्वारा धर्माधर्मव्यवस्थापकतया जगत्प्रतिष्ठाहेतूनां भवादृशां दर्शनं कस्य न श्लाघ्यमिति भावः। अत्र शब्दमात्रसाधर्म्यात् श्लेषोऽयं प्रकृतविषय इत्याहुः ॥२८॥

सारग्राहिणी—(१) प्रजाक्षेमकृता—प्रजा का कल्याण करनेवाले; पक्षान्तर में सन्तान का करनेवाले। यह 'प्रजासृजा' का विशेषण है। 'उत्पन्न हुई' इस अर्थ में प्र + √जन + ड (कर्तरि भूतार्थे) = प्रजा। √कृ + क्विप् = कृत्, तृ० ए० व० = कृता।

(२) सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना—योग्यपुरुष में रखने से स्वस्थचित्तवाले; पक्षान्तर में योग्य पात्र (तिजोरी आदि) में रखने से स्वस्थचित्तवाले। निक्षेप = नि + √क्षिप् + घञ् (भावे)। निराकुल = निर् + आ + √कुल + अच् (कर्तरि)। यहाँ आत्मन् शब्द चित्तार्थक है।

(३) प्रजासृजा—ब्रह्मा द्वारा; पक्षान्तर में—पुत्रयुक्त पुरुष द्वारा, पिता द्वारा। 'प्रजाओं को उत्पन्न किया है जिसने' इस अर्थ में प्रजा + सृज् + क्विप् (कर्तरि भूते) = प्रजा सृज्, तृ० ए० व०।

(४) त्वम्—आप। यहाँ नारदजी के लिए 'त्वम्' का प्रयोग होने से इसका पूजार्थक 'आप' से तात्पर्य है।

(५) धनसम्पदाम् इव—धनसम्पत्तियों के समान। ष० ब० व०। यहाँ 'धनसम्पत्' उपमान है तथा 'श्रुतीनां' उपमेय है। सम्पत् = सम् + पद् + क्विप् (भावे)।

( ६ ) श्रुतीनां—वेदों के। उसका सम्बन्ध 'निधिः' से है। √श्रु + क्तिन् ( कर्मणि ) = श्रुति।

( ७ ) सदाउपयोगेऽपि—हमेशा उपयोग किये जाने पर भी। सदा—अव्यय है। उपयोग = उप √युज + घञ् + ( भावे )।

( ८ ) अक्षयः—कभी भी क्षीण न होनेवाला। यह 'निधिः' का विशेषण हैं। अविद्यमान है क्षय जिसका ( नञ् तत्पु० ) 'निधिः' का विशेषण है।

( ९ ) गुरुः—महान्; पक्षान्तर में उपदेशक।

( १० ) निधिः—खजाना, भण्डार। जिसमें पदार्थ—धनादि रखा जाता है—इस अर्थ में नि + √धा + कि ( अधिकरणे ) = निधि।

( ११ ) कृतः—किये गये हैं, बनाये गये हैं। √कृ + क्त ( कर्मणि )।

व्याकरण—सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना—सुपात्र निक्षेपेण निराकुलः आत्मा यस्य सः तेन ( बहु० )। प्रजाक्षेमकृता—प्रजानां क्षेमकरोतीति तेन ( उपपद तत्पु० )। धनसम्पदाम् = धनानां सम्पत्, तासां ( षष्ठी तत्पु० )।

कोश—'प्रजास्यात्सन्ततौ जने', 'योग्यभाजनयोः पात्रम्', श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः', 'निधिर्ना शेवधिः'—इति च अमरः।

अलंकार—यहाँ प्रजा, सुपात्र, प्रजाकृत, गुरु—आदि शब्द श्लिष्ट हैं; तथा दोनों अर्थ प्रकृत हैं; अतः, यहाँ श्लेषालंकार है—ऐसा मल्लिनाथ का भी अभिमत है; देखिये मल्लिनाथ—'अत्र शब्दमात्रसाधर्म्यात् श्लेषोऽयं प्रकृतविषयः इत्याहु।' यद्यपि यहाँ 'धनसम्पदामिव श्रुतीनां' यह उपमा है, तथापि वह श्लेष की सहायिका होने से स्वयं चमत्कारिणी नहीं है।

श्रीकृष्ण नारदमुनि के प्रति अपना विनय तथा शुश्रूषुत्व व्यक्त करते हैं—

विलोकनेनैव तवामुना मुने
कृतः कृतार्थोऽस्मि निर्बहितांहसा[1]।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसी-
र्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥२९॥



१. निर्बृहितांहसा—पाठभेद।

सुप: कथम तृप्तीरिही श्रुवलो नास्ति मे हृत्कम

अन्वय—हे मुने, निर्बर्हितांहसा, अमुना, तव, विलोकनेन, एव, कृतार्थः, कृतः, अस्मि, तथापि, अहं गरीयसीः, गिरः, शुश्रूषुः, अथवा, श्रेयसि, केन, तृप्यते ॥२९॥

अनुवाद—हे महर्षि नारद ! ( मैं ) आपके पापरहित इस दर्शन से ही कृतकृत्य किया गया हूँ, तथापि मैं अर्थवती आपकी वाणी सुनने का इच्छुक हूँ। अथवा ( क्योंकि ) कल्याण के विषय में कौन तृप्त होता है, अर्थात् कोई तृप्त नहीं होता ॥२९॥

सर्वङ्कषा—विलोकनेनेति ॥ हे मुने ! निर्बर्हितांहसाऽपहृतपाप्मना अतएवामुना तव विलोकनेनैव कृतार्थः कृतोऽस्मि। तथाप्यहं गरीयसीरर्थवत्तराः। 'द्विवचन' इत्यादिना ईयसुन् प्रत्ययः 'उगितश्च' इति ङीप् 'प्रियस्थिर—इत्यादिना गुरोर्गरादेशः। गिरस्तव वाचोऽपि शुश्रूषुः श्रोतुमिच्छुरस्मि। श्रृणोतेः—सन्नन्तादुप्रत्ययः। न चैतद् वृथेत्याह—अथवा तथाहीत्यर्थः अथवेति पक्षान्तर प्रसिद्धयोरिति गणव्याख्यानात्। श्रेयसि विषये केन तृप्यते। न केनापीत्यर्थः। कृतार्थताया इयत्ताभावादिति भावः। भावे लिट् ॥२९॥

सारग्राहिणी—( १ ) मुने—हे महर्षि ( नारद )। मुनि, सम्बो० ए० व०।

( २ ) निर्बर्हितांहसा—नष्ट किये हुए पापवाले। 'विलोकनेन' का विशेषण है। निर्बर्हित = नि + √बर्ह हिंसायां ( भ्वादिगण ) + क्त ( कर्मणि )।

( ३ ) अमुना—इस। अभी-अभी अनुभव किये हुए।

( ४ ) तव विलोकनेन एव—आप के दर्शन से ही। विलोकन = वि + √लोक् + ल्युट् ( भावे )। 'तव कर्मणि षष्ठी' यह अभिमत S. R. Ray का है। वल्लभदेव इसे कर्तरि षष्ठी मानते हैं; देखिये—'तवेति कर्तरि षष्ठी' ( वल्लभदेव—सन्देहविषौषधिव्याख्या ) यहाँ एवकार—अवधारण ( निश्चय ) अर्थ में है।

( ५ ) कृतार्थः कृतः अस्मि—कृतकृत्य किया गया हूँ। कृत + अर्थ = कृतार्थः—किया गया है अर्थ ( स्वकर्तव्य ) जिसके द्वारा, वह।

( ६ ) तथापि—तो भी। यद्यपि के साथ इसका सह-वाक्य में प्रयोग होता है। जहाँ इनमें से ( यद्यपि एवं तथापि में से ) कोई एक न हो, तो

उसका आक्षेप कर लिया जाता है; तथा+अपि=तथापि, यदि+अपि=यद्यपि।

(७) अहम्—मैं (श्रीकृष्ण)।

(८) गरीयसी:—अर्थवत्तर। यह 'गिर:' का विशेषण है। गुरु+ईयसुन्+ङीप् (द्वि० ब० व०)।

(९) तव—आपके (नारद के) यहाँ नारदमुनि पूज्य होने के कारण उनके लिए प्रयुक्त तव का अर्थ 'भवत:' समझना चाहिए।

(१०) गिरः शुश्रूषुः अस्मि—वाणी सुनने का इच्छुक हूँ। अनेक विषयों को लेकर प्रयुक्त होने के कारण यहाँ 'गी:' शब्द का द्वि० ब० व० 'गिर:' प्रयोग किया गया है। यह 'शुश्रूषु:' का कर्म है।

'सुनने का इच्छुक' इस अर्थ में √श्रु+सन्+उ:=शुश्रूषु: (प्र० ए० व०) गिर: का कर्ता 'अहं' का विशेषण।

अस्मि=√अस्+लट् (उ० पु० ए० व०) अदादिगण।

(११) अथवा—क्योंकि।

(१२) श्रेयसी—कल्याण के विषय में। 'अत्यधिक प्रशस्य' इस अर्थ में प्रशस्य+ईयसुन्=श्रेयस्, नपुं० स० ए० व०।

(१३) केन—किसके द्वारा, किस पुरुष के द्वारा। किम्, पुं० तृ० ए० व०।

(१४) तृप्यते—तृप्त हुआ जाता है। √तृप्+यक्+लट्=तृप्यते, प्र० पु० ए० व०।

अर्थात्—कल्याण विषय में कोई भी पुरुष तृप्त नहीं होता; यहाँ अर्थान्तर-न्यास अलंकार व्यङ्ग्य है।

व्याकरण—निर्बर्हितांहसा—निर्बर्हितमंहः येन तत् तेन (बहु०)। गरीयसी:—अत्यन्त गुरु (गौरवशाली) इस अर्थ में गुरु+ईयसुन्+ङीप्, 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' से ईयसुन्, 'प्रियस्थिर' इत्यादि से गुरु को 'गर' आदेश, 'उगितश्च' से ङीप्।

कोश—'अंहो दुरित दुष्कृतम्', 'गीर्वाग्वाणी सरस्वती', 'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रम्'—इति च अमरः।

अथवा—क्योंकि; मल्लिनाथ—तथाहि। S. R. Ray—पक्षान्तरे। वल्लभदेव—यतः।

श्रीकृष्ण नारदमुनि के आगमन का हेतु पूछते हैं—

इच्छारहित

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं
वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो
गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम् ॥ ३० ॥

अन्वय—गतस्पृहः, अपि, आगमनप्रयोजनं, वद, इति, वक्तुं, यया, व्यवसीयते, उदितात्मगौरवः, गुरुः, एषः, तव, आगमः, एव, नः, धृष्टतां, तनोति ॥ ३० ॥

अनुवाद—हे मुने! निःस्पृह होने पर भी 'आप अपने आगमन का कारण बतायें' ऐसा कहने के लिए जिसके द्वारा (जिस धृष्टता द्वारा) उद्योग किया जा रहा है वह प्रकट किये हुए मेरे अपने गौरववाला आपका आगमन ही मेरी उस धृष्टता को बढ़ा रहा है ॥ ३० ॥

सर्वङ्कषा—गतस्पृहोऽपीति ॥ गतस्पृहो विरक्तोऽपि त्वमागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं यया धृष्टतया व्यवसीयते उद्यम्यते। स्यतेर्भावे लट्। उदितमुत्पन्नमुक्तं वा आत्मनो मम गौरवं येन स गुरुः श्लाघ्य एष तवागमः आगमनमेव नोऽस्माकं धृष्टतां तनोति विस्तारयति। तनु विस्तारे लट्। भवतो निःस्पृहत्वेऽपि प्रक्षावत्प्रवृत्तेः प्रयोजनव्याप्त्या सावकाशः प्रश्न इति भावः ॥ ३० ॥

सारग्राहिणी—(१) गतस्पृहः अपि—लौकिक पदार्थों की इच्छाओं से रहित होने पर भी। स्पृहा=√स्पृह्+अङ्+टाप्। चली गयी है स्पृहा जिसकी वह (बहु०)। यह 'त्वम्' का विशेषण है। उस 'त्वम्' का यहाँ 'तव' से आक्षेप किया गया है।

( २ ) आगमनप्रयोजनम्—आने का कारण। यह 'वद' क्रिया का कर्म है। प्रयोजन = 'प्रयुक्त होता है ( कर्त्ता ) जिसके द्वारा' इस अर्थ में प्र + युज् + णिच् + ल्युट् ( करणे )।

( ३ ) वद इति वक्तुम्—वतलायें ऐसा कहने के लिए। यहाँ नारद पूज्य होने से तथा इनके लिए सर्वत्र 'त्वं' का अर्थं 'आप' करने से सर्वत्र मध्यम पुरुषवाली क्रिया 'वद' इत्यादि का भी प्र० पु० वाला अर्थ किया जाना उचित है।

( ४ ) यया—जिसके द्वारा। यह 'धृष्टता' के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि अगले वाक्य में 'धृष्टताम्' ऐसा आया है।

( ५ ) व्यवसीयते—उद्योग किया जा रहा है। वि + अव् + सो + लट् ( भावे ) आत्मने० प्र० पु० ए० व०।

( ६ ) उदितात्मगौरवः—उत्पन्न ( प्रकट ) किये हुए मेरे अपने गौरव-वाला। 'आगमः' का विशेषण है। उदित = उद् + इ + क्त ( कर्तरि ) अथवा-वद् + क्त ( कर्मणि )। उदित शब्द 'उद्' पूर्वक इण् धातु से बनाया जावे, तो उसका अर्थ 'उत्पन्न' होगा। यदि उदित शब्द 'वद्' धातु से बनाया जावे, तो उसका अर्थ यहाँ 'प्रकट किया हुआ' होगा। उदित किया गया है अपना ( आत्मनः ) अर्थात् मेरा अथवा गौरव जिसके द्वारा वह आपका आगम है। देखिये मल्लिनाथ 'आत्मनो मम गौरवं येन सः····।'

( ७ ) गुरुः—गौरवशाली। मल्लिनाथ गुरुः श्लाघ्यः।' वल्लभदेव इसका अर्थ 'दुर्लभ' भी करते हैं; 'गुरुर्महान् दुर्लभः।'

( ८ ) एषः तव आगमः एव—यह आपका आगमन ही। आगमः = आ + गम् + अप् ( भावे )। मल्लिनाथ 'आगम' का अर्थ 'आगमन' ही करते हैं, किन्तु वल्लभदेव इसका अर्थ 'शास्त्र' भी करते हैं; 'अथ गुरुः परिपाटयागमः श्रुतं सोऽस्वश्यं धृष्टतां प्रतिभा तनोतीत्युक्तिलेशः।'

( ९ ) नः—हमारी, मेरी। 'अस्मदर्थे बहुवचनम्' ऐसा विधान होने से यहाँ श्रीकृष्ण अपने लिए 'मम' की जगह ष० ब० व० का प्रयोग करते हैं।

( १० ) ताम् धृष्टताम्—उस धृष्टता को। यहाँ 'ताम्' की ध्वनि है, वह धृष्टता जो आपके आगमन प्रयोजन को जानने के लिए उद्योग कर रही है। धृष्टता = √धृष् = क्त ( कर्तरि ) = धृष्ट — फिर 'धृष का भाव' इस अर्थ में धृष्ट + तल् = टाप्।

( ११ ) तनोति—बढ़ा रहा है, फैला रहा है। √तनु + लट्, प्र० पु० ए० व०। इसका कर्ता 'आगमः' है।

**व्याकरण**—आगमनप्रयोजनम्—आगमनस्य प्रयोजनम् ( षष्ठी तत्पु० )। उदितात्मगौरवः—आत्मनि गौरवम् अथवा आत्मनः गौरवम् = आत्मगौरवम्, उदितमात्मगौरवं येन सः ( बहु० )।

**कोश**—'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड्', 'धृष्टो धृष्णग् वियातश्च'—इति च अमरः।

महर्षि नारद श्रीकृष्ण के प्रति कथन आरम्भ करते हैं—

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती
न वाच्यमित्थं पुरुषोत्तम त्वया।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः
किमस्ति कार्यं गुरु योगिनामपि ॥ ३१ ॥

**अन्वय**—इति, ब्रुवन्तं, तं, सः, व्रती, उवाच, हे पुरुषोत्तम, त्वया, इत्थं, न, वाच्यम्, त्वमेव, योगिनां, अपि, साक्षात्करणीयः, इति, अतः, गुरु, कार्यं, किं, अस्ति ॥ ३१ ॥

**अनुवाद**—ऐसा कहते हुए उसे महर्षि ने कहा—हे पुरुषोत्तम, तुम्हें ( आपको ) ऐसा नहीं कहना चाहिए। तुम ( आप ) योगियों के भी साक्षात्कार करने योग्य हो ( हैं ); इससे अधिक बड़ा दूसरा क्या कार्य है ( हो सकता है ) ? अर्थात् कोई दूसरा कार्य इससे बड़ा नहीं है ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्ण पूज्य होने से उनके लिए भी प्रयुक्त 'त्वम्' का अर्थ सर्वत्र 'आप' करना चाहिए।

सर्वङ्कषा--इतीति ॥ इति ब्रुवन्तं तं हरिं स व्रती मुनिरुवाच । किमिति । हे पुरुषोत्तम ! पुरुषेषु श्रेष्ठ ! 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासप्रतिषेधः । त्वया इत्थं 'गतस्पृहोऽपि' इति न वाच्यम्, निस्पृहस्याप्यत्र प्रयोजनसम्भवादिति भावः । तदेवाह--योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीयः प्रत्यक्षीकर्तव्य इत्यतोऽस्मादन्यद् गुरुकार्यं किमस्ति । न किञ्चिदित्यर्थः । तस्मान्न प्रयोजनान्तरप्रश्नावकाश इति भावः ॥ ३१ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) इति---इस प्रकार, जैसा अभी तक कहते आये वैसा ।

( २ ) ब्रुवन्तम्—कहते हुए । यह 'तम्' का विशेषण है । √ब्रू + शतृ, द्वि० ए० व० ( ब्रुवन् ) ।

( ३ ) तम्—उसे, श्रीकृष्ण को । यहाँ श्रीकृष्ण ही प्रकृत होने से 'तत्' से उन्हीं का वोध होता है ।

( ४ ) व्रती सः—तपस्वी उन्होंने, महर्षि नारद ने । विभिन्न प्रकार के तपस्, अनुष्ठान तथा ब्रह्मचर्यादि यम-नियम पालन करने से नारद को 'व्रती' कहा गया है । व्रतमस्यास्तीति व्रती । व्रत + इनि ( मत्वर्थे ) ।

( ५ ) उवाच—कहा । इसका कर्ता 'सः' है वच् + लिट्, प्र० पु० ए० व० = उवाच ।

( ६ ) हे पुरुषोत्तम ! हे पुरुषों में श्रेष्ठ–हे श्रीकृष्ण । पुरिशेते इति=पुरुषः; उद + तमप् = उत्तमः । पुरुषेषु उत्तमः—पुरुषोत्तमः । यह संज्ञावाचक शब्द होने से यहाँ नित्य समास है । पुरुषोत्तम की व्याख्या देखिये श्रीमद्भगवद् गीता ( अ० १५, श्लोक १८ )--

"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥"

( ७ ) त्वया—आप द्वारा ।

( ८ ) इत्थम्—ऐसा, पूर्वोक्त प्रकारवाला कथन । इदम् + थमु = इत्थम्; यह अव्यय है ।

( ९ ) न वाच्यम्—नहीं कहा जाना चाहिए । वाच्यम्—वच्+ण्यत् ।

( १० ) योगिनामपि—योगियों के भी । अर्थात् योगियों द्वारा भी । यहाँ कर्ता में षष्ठी हुई है, 'कृत्यानां कर्तरि वा' अतः अर्थ है—योगियों द्वारा भी । योगिन्—√युज् समाधौ ( दिवादि ) + णिनि ( कर्तरि ) ।

( ११ ) त्वम् एव—आप ही । दूसरा कोई नहीं । यहाँ एवकार अन्ययोग व्यवच्छेदार्थक है ।

( १२ ) साक्षात्करणीयः—साक्षात्कार ( प्रत्यक्ष ) करने योग्य है । साक्षात्+√कृ+अनीयर् ( कर्मणि ) । 'साक्षात्' प्रत्यक्षार्थक अव्यय है ।

( १३ ) इति अतः—इसकी अपेक्षा । इससे बढ़कर ।

( १४ ) गुरु कार्यम्–महान् कार्य । कार्यम् = √कृ+ण्यत् (ऋहलोर्ण्यत्) ।

( १५ ) किम् अस्ति—क्या है ? अर्थात् कोई अन्य महान् कार्य नहीं है । आप योगियों के द्वारा साक्षात्करणीय हैं, इस स्वकथन का महर्षि नारद प्रतिपादन करते हैं—यदुक्तं योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इति, तदेव द्रढयति—

उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनै-
रभीक्ष्णमक्षुण्णतयाऽतिदुर्गमम् ।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विन-
स्त्वमग्रभूमिर्निरपायसंश्रया ॥३२॥

अन्वय—उदीर्णरागप्रतिरोधकं, अभीक्ष्णं, अक्षुण्णतया, जनैः अतिदुर्गमम्, मोक्षपथं उपेयुषः, मनस्विनः, त्वं, निरपायसंश्रया, अग्रभूमिः ( असि ) ॥३२॥

अनुवाद—बढ़ा हुआ विषयानुराग जिसमें बाधक है तथा जो बार-बार अनभ्यस्त होने के कारण लोगों द्वारा अत्यन्त कठिनाई से जानने योग्य है, ऐसे मोक्षपथ को प्राप्त हुए मनस्वी ( ज्ञानी ) के लिए आप नाश ( पुनरावृत्ति ) रहित आश्रय ( प्राप्ति ) वाला चरम प्राप्यस्थान हैं ॥३२॥

**सर्वङ्कषा**—उदीर्णेति ॥ उदीर्ण उद्रिक्तो रागो विषयाभिलाप: स एव प्रतिरोधक: प्रतिबन्धक: पाटच्चरश्च यस्मिन् । 'प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचा:' इत्यमर: । अभीक्ष्णमक्षुण्णतयाऽनभ्यस्तत्वेनाप्रतिहतत्वेन च जनैरतिदुर्गमं मोक्षपथमपवर्गमार्गं कान्तारं चोपेयुष: प्राप्तवत: 'उपेयिवान्'—इत्यादिना क्वस्वन्तो निपात: । मनस्विन: सुमनस: धीरस्य च । प्रशंसायां विनि: । त्वमेव निरपाय: पुनरावृत्तिरहित: संश्रय: प्राप्तिर्यस्या: सा तथोक्ता । 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुते: । अग्रभूमि: प्राप्यस्थानम् । 'अग्रमालम्बने प्राप्ये' इति विश्व: । 'सोऽहम्' इत्यादि श्रुतेस्तत्प्राप्तेरेव मोक्षत्वादिति भाव: । तस्मान्मुमुक्षूणामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इति सिद्धम् । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुते: । यथा कस्यचित् कुतश्चित् संकटान्निर्गतस्य केनचित्कान्तारेण गतस्य किञ्चिन्निर्बाधस्थानप्राप्तिरभयाय कल्पते, यथा त्वमपि मुमुक्षोरिति ध्वनि: ॥३२॥

**सारग्राहिणी**--( १ ) **उदीर्णरागप्रतिरोधकं**—बढ़ा हुआ विषयानुराग ( सांसारिक भोगलिप्सा ) बाधक है जिसमें । उदीर्ण = उद् + √ऋ गतौ ( ब्र्यादि ) + क्त ( कर्तरि ) राग = √रञ्ज् + घञ् ( करणे ) । प्रतिरोधक = प्रति + √रुध् + ण्वुल् ( कर्तरि ) । यह 'मोक्षपथम्' का विशेषण है ।

( २ ) **अभीक्ष्णम् अक्षुण्णतया**—बार-बार क्षुण्ण ( चलने-फिरने से दलित ) न होने के कारण । अभीक्ष्णम्—अव्यय । अक्षुण्णतया—अक्षुण्णता, तृ० ए० व०; √क्षुद् + क्त ( कर्मणि )—क्षुण्ण न क्षुण्ण—अक्षुण्ण ( नञ् तत्पुरुष ) अक्षुण्ण + तल् + टाप् = अक्षुण्णता ।

( ३ ) **जनै: अतिदुर्गमम्**—लोगों द्वारा अत्यन्त कठिनाई से जानने योग्य । अतिदुर्गमम्—अति + दुर् + √गम् + खल् । यहाँ 'नलोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम्' से षष्ठी का निषेध होने के कारण 'जन' में तृतीया हुई है ।

( ४ ) **मोक्षपथम्**—मुक्ति के मार्ग को । 'उपेयुष' का कर्म है । मुक्ति का मार्ग इस अर्थ में मोक्ष + पथिन् + समासान्त अ ( ऋक्पूरब्धू:पथामानक्षे ) । वल्लभदेव का कथन है—'मोक्षश्चासौ पन्थाश्चेति' मोक्षपथ: तं मोक्षपथम् ।

( ५ ) **उपेयुष:**—प्राप्त हुए । 'मनस्विन:' का विशेषण है । उप + √इण् + क्वसु = उपेयिवान्, ष० ए० व० = उपेयुष: ।

( ६ ) मनस्विनः---ज्ञानी के ( लिए )। मनः अस्य अस्ति इति मनस् + विनि = मनस्विन्, ष० ए० व० ।

( ७ ) त्वम्---आप, श्रीकृष्ण ।

( ८ ) निरपायसंश्रया---नाशरहित आश्रय ( प्राप्ति ) वाला। यह 'अग्रभूमिः' का विशेषण है। अपाय---अप् + √अय् + घञ् ( भावे ) अथवा अप् + √अय् + घञ् ( करण )। प्रथम में अपाय का अर्थ पीछे जाना। पुनरावृत्ति होता है तथा द्वितीय में अपाय का अर्थ नाश, भय होता है।

( ९ ) अग्रभूमिः---चरम प्राप्य स्थान। अग्रे भूमिः अग्रभूमिः---अथवा अग्रांचासौ भूमिश्चेति अग्रभूमिः। यहाँ अग्र शब्द का अर्थ है---प्राप्य, गन्तव्य।

( १० ) असि---तुम हो, आप हैं। √अस् + लट्, सिप्, म० पु० ए० व०।

व्याकरण---निरपायसंश्रया---निर्गतः अपायः यस्मात् स निरपायः, निरपायः संश्रयः यस्याः सा ( बहु० )। मतुप्, वतुप् आदि प्रत्यय निम्नलिखित अर्थों में होते हैं---

'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥'

उदीर्णरागप्रतिरोधकम्---उदीर्णश्चसौ रागश्च उदीर्णरागः, उदीर्णरागा एव प्रतिरोधकः यस्मिन् सः तम्।

कोश---'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः' 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाण श्रेयोनिः श्रेयसामृतम्', 'मोक्षोऽपवर्गः'---इचि च अमरः।

अलंकार---यहाँ अनेक श्लिष्ट विशेषणों---'अतिदुर्गमम्, निरपायसंश्रया', इत्यादि के द्वारा श्रीकृष्ण तथा मुमुक्षु प्रकृत के साथ निर्बाधस्थान तथा चोर आदि से भीत पथिक---अप्रकृत के व्यवहार का आरोप होने से व्यङ्ग्यार्थ संवलित समासोक्ति अलंकार है। समासोक्ति का लक्षण है---'समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्' ( चन्द्रालोक )।

कपिल आदि द्वारा प्रकृति से विविक्तरूप से वेद्य पुरुष आप ( श्रीकृष्ण ) ही हैं, यह वर्णन करते हैं—ननु प्रकृतिविविक्तपुरुषसाक्षात्कारान्मोक्षो नास्मत्साक्षात्कारादित्याशंक्य सोऽपि त्वमेवेत्याह—

उदासितारं निगृहीतमानसै-
गृंहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन ।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः
पुरातन त्वां पुरुषं पुराविदः ॥३३॥

अन्वय—पुराविदः, निगृहीतमानसैः, अध्यात्मदृशा, कथञ्चन, गृहीतं, त्वां, बहिर्विकारं, प्रकृतेः, पृथक्, पुरातनं, पुरुषं, विदुः ॥३३॥

अनुवाद—पुरावृत्त को जाननेवाले कपिलमुनि आदि महर्षि आपको स्वचित्त को वश में करनेवाले योगियों द्वारा अध्यात्मदृष्टि से किसी प्रकार ( अत्यन्त कठिनता से ) साक्षात् किया गया, उदासीन, महत् आदि प्रकृतिविकारों से पृथक् रहनेवाला पुराणपुरुषपदवाच्य विज्ञानघनरूप में—जानते हैं ॥३३॥

सर्वङ्कषा—उदासितारमिति ॥ पुराविदः पूर्वज्ञाः कपिलादयस्त्वांनिगृहीतमानसैरन्तर्निबद्धचित्तैर्योगिभिः आत्मनि अधि इत्यध्यात्मम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः 'अनश्च' इति समासान्तष्टच् । अध्यात्मं या दृक् ज्ञानं तयाध्यात्मदृशा प्रत्यग्दृष्टया कथञ्चन गृहीतं साक्षात्कृतम् । केन रूपेण गृहीतमित्यत आह—उदासितारमुदासीनम् । प्रकृतौ स्वार्थंप्रवृत्तायामपि स्वयमप्राकृतत्वादस्पृष्टमित्यर्थः । आसेस्तृच् ।

विकारेभ्यो बहिः बहिर्विकारम् । महदादिभ्यः पृथग्भूतमित्यर्थः । 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इत्यव्ययीभावः । किञ्च प्रकृतेस्त्रैगुण्यात्मनो मूलकारणात्पृथाग्भिन्नम् । 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु प्रधाने मूलकारणे' इति यादवः । पुराभवं पुरातनमनादिम् । 'सायंचिरम्'—इत्यादिना ट्युप्रत्ययः । पुरुषं पुरुषपदवाच्यं विज्ञानघनं विदुर्विदन्ति । 'विदो लटो वा' इति झेरुसादेशः । यथाहुः—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥' इति

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्', इत्यादि श्रुतिश्च। सोऽपि त्वमेव, 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यैरैक्यश्रवणात्। तस्मात् त्वमेव साक्षात्करणीय इति सुष्ठूक्तमिति भावः ॥३३॥

सारग्राहिणी—(१) पुराविदः—पूर्वकाल के वृत्त को जाननेवाले। पुराविद्, प्र० व०। कपिलमुनि आदि के लिए यह सामान्यतया प्रयुक्त हुआ है। वल्लभदेव सनत्कुमार आदि लेते हैं; 'पुराविदः सनत्कुमारप्रभृतयश्चिरन्तनाः (सन्देहविषौषधि)।' पुरा—अव्यय। पुरा + √विद् + क्विप् (कर्तरि)। पुरा विदन्ति इति पुराविदः (उपपद; तत्पु०)।

(२) त्वाम्—आपको, श्रीकृष्ण को।

(३) निगृहीतमानसैः—संयमित चित्तवाले योगियों द्वारा। तृ० व० व०। ग्रहण (गृहीतम्) क्रिया का कर्ता। निगृहीत—नि + ग्रह + क्त (कर्मणि)। मानस—मनस् + अण् (स्वार्थे)।

(४) अध्यात्मदृशा—अध्यात्मदृष्टि से। आत्मनि इति अध्यात्मम् (समासान्त टच्) दृश् + क्विप् (कर्तरि)। अध्यात्मदृक् अध्यात्मदृक् तथा अध्यात्मदृशा (तृ० ए० व०) करणे तृ०।

(५) कथञ्चन—किसी प्रकार अर्थात् बड़ी कठिनाई से। यह अव्यय है।

(६) गृहीतम्—जाने गये। √ग्रह् + क्त, द्वि० ए० व०। यहाँ तथा अन्यत्र भी प्रकरणानुसार ग्रह धातु का ज्ञानार्थक प्रयोग किया जाता है।

(७) उदासितारम्—उदासीन—अपेक्षा तथा उपेक्षा से रहित। उद + आस + तृच् (कर्तरि) उदासितृ, द्वि० ए० व०।

(८) बहिर्विकारम्—विकारों से पृथक् रहनेवाला। बहिस्—अव्यय। विकार—वि + √कृ + घञ् (कर्मणि)। विकारेभ्यः बहिः—बहिर्विकारम् (अव्ययीभाव) अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' (२।१।१२) पा० सू०।

(९) प्रकृतेः पृथक्—प्रकृति से भिन्न। प्रकृति—प्र + √कृ + क्तिन्, प० ए० व० = प्रकृतेः। यहाँ 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्' से विकल्प में पञ्चमी हुई है।

( १० ) पुरातनम् पुरुषम्—पुराणपुरुषपदवाच्य विज्ञानघनरूप। पुरा—अव्यय। पुरातन = अति प्राचीन, प्रकृति के विरूप परिणाम के प्रारम्भ होने से भी पहले समय में विद्यमान।

( ११ ) विदुः—जानते हैं। यहाँ 'विदो लटो वा' ( ३।४।८३ पा० सू० ) से लट् की जगह लिट् के प्रत्यय होने से 'झि' की जगह 'उस' हुआ है। विदुः = विदन्ति।

व्याकरण — निगृहीतमानसैः—निगृहीतं मानसं यैस्ते तैः ( बहु० )।

कोश—'पृथग्विनान्तरेणर्ते हिरुङ् नाना च वर्जन—इति अमरः।

नारद मुनि इस प्रकार भगवान् के निर्गुण स्वरूप को कहकर अब प्रकृतोपयोगि सगुण रूप का ६ श्लोकों से वर्णन करते हैं; उनमें प्रथम 'वराह' अवतार का चरित कहते हैं—

एवं भगवतो निर्गुणस्वरूपमुक्त्वा सम्प्रति प्रस्तुतोपयोगितया सगुणमाश्रित्य षड्भिः स्तौति—

निवेशयामासिथ हेलयोद्धृतं
फणाभृतां छादनमेकमोकसः।
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकै-
रहीश्वरस्तम्भशिरस्सु भूतलम् ॥३४॥

अन्वय — जगत्त्रयैकस्थपतिः, त्वं, हेलयोद्धृतं, फणाभृतां, ओकसः, एकं छादनं, भूतलं, उच्चकैः, अहीश्वरस्तम्भशिरस्सु, निवेशयामासिथ ॥३४॥

अनुवाद—( वराह अवतार में ) तीनों लोकों के एकमात्र शिल्पी आपने आपने अनायास ही उठाये गये सर्पों के गृह ( पाताललोक ) के एकमात्र आवरणरूपी इस भूतल को शेषनाग के उन्नत मस्तकरूपी खम्भों पर स्थापित कर दिया ॥३४॥

सर्वङ्कषा—निवेशयामासिथेति ॥ जगत्त्रयैकस्थपतिरेकाधिपतिरेकशिल्पी च। 'स्थपतिरधिपतौ तक्ष्णि बृहस्पतिसचिवयोः' इति वैजयन्ती। त्वं हेलयोद्धृतम् वराहावतारे इति भावः। फणाभृतामोकसः आश्रयस्य रसातलस्य। ओकः सद्म

चाश्रये' इति विश्वः। एकं छादनमावरणं भूतलमुच्चकैरुन्नतेषु अहीश्वरः शेष एव स्तम्भस्तस्य शिरस्सु मूर्धसु अग्रेषु च। फणासहस्रेष्विति भावः। निवेशयामासिथ निवेशितवानसि। विशतेर्ण्यन्ताल्लिटि थल्। 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्यस्तेरनुप्रयोगः। अत्र श्लिष्टाऽश्लिष्टरूपकयोर्हेतुहेतुमद्भावात् श्लिष्टं परम्परितरूपकम् ॥ ३४ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) जगत्त्रयैकस्थपतिः—तीनों लोकों के एकमात्र शिल्पी। जगत् + त्रय + एक + स्थपति। 'तीन हैं अवयव जिसके' इस अर्थ में त्रि + अयच् = त्रय।

( २ ) त्वम्—आपने।

( ३ ) हेलया—अनायास, विना किसी परिश्रम के। हेला, तृ० ए० व०।

( ४ ) उद्धृतम्—उठाये गये। 'भूतलम्' का विशेषण है। उत् + धृ + क्त ( कर्मणि )।

( ५ ) फणाभृताम्—सर्पों के। फणाभृतः—फणाः बिभ्रति इति फणाभृतः, तेषां, ष० व० व०। 'ओकसः' से सम्बद्ध। उपपद तत्पु०।

( ६ ) ओकसः—निवासस्थान के, गृह के ( पाताललोक के )। ओकस, ष० ए० व०। 'छादनम्' से सम्बद्ध।

( ७ ) एकं छादनम्—एकमात्र आवरण। ढँका जाता है जिससे इस अर्थ में छद् + णिच् + ल्युट् ( करणे )। नपुं०।

( ८ ) भूतलम्—भूतल ( मृत्युलोक )। नपुं० प्र० ए० व० 'कर्म' to निवेशयामासिथ।

( ९ ) उच्चकैः—उन्नत। यह "अहीश्वरस्तम्भशिरस्सु" का विशेषण है। उच्चकैः—अव्यय।

( १० ) अहीश्वरस्तम्भशिरस्सु—शेषनाग के स्तम्भ सदृश मस्तकों पर; अथवा—शेषनागरूपी स्तम्भ के मस्तकों पर—देखिये मल्लिनाथ—"अहीश्वरः शेष एव स्तम्भस्तस्य शिरस्सु……"।

( ११ ) निवेशयामासिथ—रखा। नि + विश् + णिच् + लिट् ( थल् ), म० पु० ए० व०। इसका कर्ता 'त्वम्' है। जब 'त्वम्' का अर्थ 'भवान्' किया जावेगा, तब 'निवेशयामास।'

व्याकरण—जगत्त्रयैकस्थपतिः—जगत्त्रयस्य एकश्चासौ स्थपतिश्च ( तत्पुरुष )।

अहीश्वरस्तम्भशिरस्सु—अहीश्वरः एव स्तम्भः तस्य शिरस्सु। अथवा—अहीश्वरस्य स्तम्भा इव यानि शिरांसि तेषु ( तत्पु० )।

कोश—'विष्टपं भुवनं जगत्', 'ओकः सद्माश्रयश्चौकाः', 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षम्'—इति च अमरः।

श्रीकृष्ण की महिमा का दुर्ज्ञेयत्व नारदमुनि वर्णन करते हैं—

अनन्यगुर्व्यास्तव केन केवलः
पुराणमूर्तेर्महिमाऽवगम्यते।
मनुष्यजन्माऽपि सुरासुरान् गुणै-
र्भवान् भवच्छेदकरैः करोत्यधः॥ ३५॥

अन्वय—अनन्यगुर्व्याः, पुराणमूर्तेः, तव, केवलः, महिमा, केन, अवगम्यते, मनुष्यजन्मा, अपि, भवान्, भवच्छेदकरैः, गुणैः, सुरासुरान्, अधः, करोति॥ ३५॥

अनुवाद—जिससे महत्तर ( अथवा जिसका गुरु—जनक ) अन्य कोई नहीं है ऐसी आपकी पुराणमूर्ति की समग्र महिमा किसके द्वारा जानी जा सकती है? मनुष्यदेहधारी भी आप संसार-बन्धन के निवर्तक ज्ञान-परोपकारादि गुणों से देवताओं तथा दैत्यों को अपने से निम्न कर रहे हैं ( तिरस्कृत कर रहे हैं )॥ ३५॥

सर्वङ्कषा—अनन्येति॥ न विद्यतेऽन्यो गुरुर्यस्यास्तस्या अनन्यगुर्वाः इत्यनीकारान्तः पाठः। समासात् प्राङ् ङीपि 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रसङ्गः स्यात्, पश्चात्वनुपसर्जनाधिकारात् 'वोतो गुणवचनात्' इति प्राप्नोति। 'ङिति ह्रस्वश्च' इति वा नदीसंज्ञत्वात् 'आण्नद्याः' इत्याडागमः। केचित् तु समासान्तविधिरनित्य

इति कपं वारयन्ति। तस्याः सर्वोत्तमायास्तव पुराणमूर्तेरमानुषस्वरूपस्य केवलः कृत्स्नः। 'केवलः कृत्स्न एकः स्यात्केवलश्चावधारणे' इति विश्वः। महिमा केनावगम्यते। न केनापीत्यर्थः। कुतः—मनुष्याज्जन्म यस्य स मनुष्यजन्मा भवान्। 'अवर्ज्यो हि वहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः। भवच्छेदकरैः संसारनिवर्तकैर्गुणैर्ज्ञानादिभिः सुरासुरान्। सुरासुरविरोधस्य कार्योपाधिकत्वेनाशाश्वतिकत्वात् 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इति न द्वन्द्वैकवद्भाव इत्याहुः। अधः करोति। 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः, भवच्छब्दस्य युष्मदस्मदन्यत्वेन शेषत्वादिति। मानुष एव ते महिमा दुरवगाहः, अमानुषस्तु किमितिि तात्पर्यार्थः। द्वितीयार्थेऽसकृद्व्यञ्जनावृत्त्या छेकानुप्रासः॥ ३५॥

**सारग्राहिणी**—(१) अनन्यगुर्व्याः[1]—जिसकी अपेक्षा अन्य कोई गुरु (महत्तर) नहीं है, ऐसी। 'पुराणमूर्तेः' का विशेषण है। अविद्यमाना अन्या गुर्वी (गुरुतरा) यस्याः सा = अनन्यगुर्वी, तस्याः, ष० ए० व०। अथवा—अविद्यमानः गुरुः (जनकः, उत्पादनकर्ता) यस्याः सा तस्याः, ष० ए० व०। प्रथम समास को मल्लिनाथ ने थोड़े पृथक् रूप से माना है; वह रूप यह है—'न विद्यतेऽन्यो (अन्या[2]) गुरुर्यस्यास्तस्या अनन्यगुर्वाः—इत्यनीकारान्तः पाठः।' अर्थात् मूलपाठ भी उसके मत में 'अनन्यगुर्व्याः' की जगह 'अनन्यगुर्वाः' होना चाहिए। इसके लिए दिये गये तर्क वहीं (सर्वंकषा में) देखने चाहिए; किन्तु S. R. Ray इसका खण्डन करते हुए द्वितीय समास को मानते हैं; वे लिखते हैं—Malli's exposition is open to criticism"......we have therefore offered the second exposition above"............ for अविद्यमानः गुरुः अस्याः means unborn, where as we went to say 'born himself—स्वयम्भूः।'

वल्लभदेव 'न विद्यते अन्या गुरुर्गरीयसी यस्याः सा तस्याः' इस प्रकार समास करते हैं।

प्राचीन टीकाकारों के (विग्रह) समास की संगति व्याकरण के अनुसार हो जातीं है, अतः उसे ही मानना उचित प्रतीत होता है।

---

१. अनन्यगुर्वाः—पा० भे०। २. उपलब्ध मल्लिनाथी टीकाओं के संस्करणों में"...... अन्यो गुरुर्यस्याः"......पाठ मिलता है।

( २ ) तव पुराणमूर्तेः—आपकी पुराण-पुरुषरूपी मूर्ति की। पुराणी चासौ मूर्तिश्चेति पुराणमूर्तिः तस्याः, ष० ए० व० ( कर्मधा० )।

( ३ ) केवलः—सम्पूर्ण। केवल शब्द का अर्थ 'मात्र'—तथा सम्पूर्ण आदि भी होता है; देखिये इसी श्लोक की व्याख्या में 'कोश'।

( ४ ) महिमा—माहात्म्य। इमनिच् प्रत्ययान्त शब्द पुंल्लिग होते हैं; अतः, महिमन्—प्र० ए० व० = महिमा। भाषा में इसका प्रयोग स्त्रीलिंग प्रवाहवश होता हैं।

( ५ ) केन अवगम्यते—किसके द्वारा जानी जाती है; अर्थात् किसी के द्वारा भी आपकी पुराणमूर्ति की महिमा नहीं जानी जा सकती। अवगम्यते = अव+√गम् + यक् + लट्, प्र० पु० ए० व०।

( ६ ) मनुष्यजन्मा अपि—मनुष्य देहधारी भी। यह 'भवान्' का विशेषण है। 'अपि' अव्यय है।

( ७ ) भवान्—आप। भवत्—पुं० प्र० ए० व०।

( ८ ) भवच्छेदकरैः—संसार-बन्धन को नष्ट करनेवाले। 'गुणैः' का विशेषण है। भव—'जो होता हैं' इस अर्थ में √भू + अच् ( कर्तरि ) = भव; छेद—√छिद् + घञ् (भावे), कर—√कृ + अप् (कर्तरि)। तृ० व० व०।

( ९ ) गुणैः—ज्ञान आदि गुणों से। करणार्थे तृतीया।

( १० ) सुरासुरान्—देवताओं तथा दैत्यों को 'अधः करोति' का कर्म है। देवता और दैत्य कहने से उनके मध्यवर्ती मनुष्यों का ग्रहण स्वतः हो जाता है।

( ११ ) अधः करोति—निम्न कर रहे हैं ( तिरस्कृत कर रहे हैं )। यहाँ 'सुरासुरान्' को 'अधः करोति' का कर्म होने से द्वितीया हुई है। यह उसके कर्ता 'भवान्' की क्रिया है।

व्याकरण—मनुष्यजन्मा—मनुष्यात् जन्म यस्य सः ( बहु० )। सुरासुरान्—सुराश्च असुराश्च सुरासुराः तान् ( द्वन्द्व० )।

कोश—'गुरुस्त्रिलिङ्ग्यां महति दुर्जरालघुनोरपि। पुमान्निषेकादिकरेपित्रादौ सुरमन्त्रिणो'—इति मेदिनी। 'केवलः कृत्स्न एकः स्यात्केवलश्चावधारणे' —इति विश्वः। 'मौर्व्यां द्रव्याश्रिते सत्वशौर्यसन्ध्यादिके गुणः'—इति अमरः।

अलंकार—यहाँ छेकानुप्रास अलंकार है।

गुरु = श्रेष्ठ, पिता, उत्पन्न करनेवाला, उपदेशकर्ता आचार्य, भारी आदि। प्रकृति में श्रेष्ठ तथा उत्पन्न करनेवाला ये दो अर्थ अपेक्षित हैं।

पृथ्वी का भार हल्का करने के लिए अवतीर्ण आपके द्वारा पृथ्वी गुरु हो रही है—यह बात नारदमुनि श्रीकृष्ण से कह रहे हैं—

लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुरा-
ममूं किल त्वं त्रिदिवादवातरः।
उदूढलोकत्रितयेन साम्प्रतं
गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया ॥३६॥

अन्वय—अतिभारभङ्गुरां, अमूम्, लघूकरिष्यन्, त्वं, त्रिदिवात्, अवातरः, किल, साम्प्रतं, उदूढलोकत्रितयेन, त्वया, धरित्री, गुरुः, क्रियतेतराम् ॥३६॥

अनुवाद—आप दुष्टों—राक्षसों के अतिभार से स्वयं विदीर्ण होनेवाली पृथ्वी को हलका ( भारहीन ) करने के लिए अवतीर्ण हुए हैं, किन्तु इस समय तीनों लोकों को उदर में धारण किये हुए आप द्वारा यह पृथ्वी भारवती (गौरवशालिनी) बनायी जा रही है ॥३६॥

सर्वङ्कषा—लघूकरिष्यन्निति ॥ त्वमति भारेणोर्जेन स्वरूपेण भङ्गुरां स्वयं भज्यमानाम्। भञ्जभासमिदो घुरच्। 'भङ्गुरः कर्मकर्तरि' इति वामनः। अमूम्। भुवमित्यर्थः। लघुकरिष्यन्निर्भारां करिष्यन् किल। 'कृभ्वस्ति'—इत्यादिना अभूततद्भावे च्विः। 'च्वौ च' इति दीर्घः। तृतीया द्यौस्त्रिदिवः स्वर्गस्थानस्तस्मात्। घञर्थे 'क' विधानम्। वृत्तिविषये संख्याशब्दस्य पूरणार्थत्वं त्रिभागादिवत्। अवातरः अवतीर्णोऽसि। साम्प्रतं सम्प्रत्युदूढलोकत्रितयेन। कुक्षाविति शेषः। त्वया धरित्री गुरुः पूज्या, भारवती च क्रियतेतरामतिशयेन क्रियते। 'तिङश्च' इति तरप्। 'किमेत्तिङव्ययघात्'—इत्यादिना आमप्रत्ययः। लघुकर्ता गुरुकर्तेति विरोधाभासोऽलङ्कारः। 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति तल्लक्षणम् ॥३६॥

सारग्राहिणी—( १ ) त्वम्—आप ।

( २ ) अतिभारभङ्गुराम्—अत्यन्त भार से स्वयं विदीर्ण होनेवाली। 'अमूम्' का विशेषण है। अति + भार + भङ्गुरा। स्त्री० द्वि० ए० व०। भङ्गुरा = √भञ्ज् + घुरच् ( कर्मकर्तरि ) + टाप्।

( ३ ) अमूम्—इसको अर्थात् इस पृथ्वी को।

( ४ ) लघूकरिष्यन्—हलकी, भारहीन करने के लिए। जो लघु नहीं है उसे लघु बनाते हुए। लघु + च्वि + √कृ + लृट् + शतृ ( स्यतृ )। यहाँ 'अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' से 'च्वि' हुआ है।

( ५ ) त्रिदिवात्—स्वर्ग से। त्रिदिव, पुं० पं० ए० व०। 'अपादाने पञ्चमी।' तृतीया द्यौः त्रिदिवः तस्मात् = त्रिदिवात्।

( ६ ) अवातरः—अवतीर्ण हुए हैं। अव + √तृ + लङ्, म० पु० ए० व०।

( ७ ) किल—निश्चय ही। यह अव्यय प्रायः निश्चयार्थक प्रयुक्त होता है, तथा कभी-कभी पादपूर्ति के लिए भी आता है। अनेक बार यह वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त होता है।

( ८ ) साम्प्रतम्—इस समय। अव्यय है।

( ९ ) उद्व्ढलोकत्रितयेन—( अपने उदर में ) तीनों लोकों को धारण किये हुए। 'त्वया' का विशेषण है। उत् + ऊढ + लोकत्रितय। तृ० ए० व०। ऊढ √वह + क्त ( कर्मणि )।

( १० ) त्वया—तुम्हारे द्वारा, आप द्वारा।

( ११ ) धरित्री—पृथ्वी। 'जो धारण करती है' इस अर्थ में √धृ + इत्र ( कर्तरि ) + ङीप्।

( १२ ) गुरुः—भारी, गौरवशाली। धरित्री का विशेषण है।

( १३ ) क्रियतेतराम—अत्यधिक मात्रा में की जा रही है। क्रियते + तराम्। 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' 'तिङश्च' से तरप्। क्रियते = √कृ + यक् ( कर्मणि ) + लट्। प्र० पु० ए० व०।

व्याकरण—अतिभारभङ्गुराम्—अतिशयितो भारः = अति भारः, अतिभारेण भङ्गुरा, ताम् ( तत्पु० ) उद्वूढलोकत्रितयेन—उद्वूढं लोकानां त्रितयं येन सः तेन ( बहु० )।

कोश—'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा', 'धराधरित्री धरणिः'—इति च अमरः।

अलङ्कार—यहाँ पृथ्वी का भार हल्का करने के लिए अवतीर्ण आपके द्वारा पृथ्वी अत्यन्त भारवती की जा रही है—ऐसे विरुद्धार्थ की आपाततः, प्रतीति हो रही है; किन्तु अन्त में गुरु शब्द का अर्थ 'गौरवशालिनी, पूज्य' करने से विरोध का परिहार होने से, 'विरोधाभास' अलङ्कार है। इसका लक्षण इस प्रकार है—'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते' ( कुवलयानन्द )।

महर्षि नारद श्रीकृष्ण के अवतार की प्रकारान्तर से महिमा वर्णन करते हैं—

निजौजसोज्जासयितुं जगद्द्रुहा-
मुपाजिहीथा न महीतलं यदि।
समाहितैरप्यनिरूपितस्ततः
पदं दृशः स्याः कथमीश मादृशाम् ॥३७॥

अन्वय—निजौजसा, जगद्द्रुहां, उज्जासयितुं, यदि, महीतलं, न, उपाजिहीथाः; ततः, ईश, समाहितैः, अपि, अनिरूपितः, मादृशां, दृशः, पदं, कथं, स्याः ॥ ३७ ॥

अनुवाद—हे भगवन्! यदि आप अपने तेज से जगद्द्रोही ( कंसादि ) का वध करने के लिए पृथ्वी पर अवतार न लेते, तो योगियों द्वारा भी अज्ञात ( हृदयगुफा में अगृहीत ) आप मुझ जैसे ( चर्मचक्षुष् ) लोगों की दृष्टि के विषय कैसे होते? अर्थात् न होते ॥ ३७ ॥

सर्वङ्कषा—निजौजसेति ॥ निजौजसा स्वतेजसा। जगद्भ्यो द्रुह्यन्तीति जगद्द्रुहः कंसादयः 'सत्सूद्विष—'इत्यादिना क्विप्। तेषामुज्जासयितुम्। तान् हिंसितुमित्यर्थः। 'जासिनिप्रहण—' इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी। 'जसु हिंसायाम्' इति चुरादिः। महीतलं नोपाजिहीथाः यदि नावत्तरिष्यत्। ओहाङ् गतौ लङि-

थासि रूपम् । ततस्तर्हि समाहितैः समाधिनिष्ठैरपि । सकर्मकादप्याशितादिवदविवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः । अथवा समाहितैः समाहितचित्तैरित्यर्थः । विभक्तधनेषु 'विभक्ता भ्रातरः' इतिवदुत्तरपदलोपो द्रष्टव्यः । गम्यमानार्थस्याप्रयोग एव लोप इति कैयटः । अनिरूपितोऽगृहीतस्त्वमीश । मादृशाम् चर्मचक्षुषामिति भावः । विनयोक्तिरियम् । दृशो दृष्टेः पदं गोचरः कथं स्याः । न कथञ्चिदित्यर्थः । तस्मात् त्वत्साक्षात्कार एवागमनप्रयोजनमितिभावः ॥ ३७ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) निजौजसा—अपने तेज से । निज + ओजस्, तृ० ए० व० । करणे तृ० ।

( २ ) जगद्द्रुहाम्—जगत् से द्रोह करनेवालों को । यहाँ षष्ठी कर्म को हुई है; वस्तुतः, यह 'उज्जासन' क्रिया का कर्म है, परन्तु इसे 'कर्म' पद से सम्बोधित नहीं किया जाता । 'जासि नि प्रहण नाटक्राथपिषां हिंसायाम्' से यह षष्ठी होती है ।

( ३ ) उज्जासयितुम्—मारने के लिए । उत् + जासयितुम् । जास् + णिच् + तुमुन् ( भावे ) ।

( ४ ) यदि—अगर ।

( ५ ) महीतलम्—पृथ्वी पर । अधिकरण होने पर भी उप + √हा क्रिया सकर्मक होने के कारण इसे कर्म बनाया गया है और तदनुरोधेन द्वितीया हुई है ।

( ६ ) न उपाजिहीथाः—( यदि ) न आते । उप + √हा ( गतौ ) + लङ्, म० पु० ए० व० ।

( ७ ) ततः—तो । यहाँ 'ततः' तर्हि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

( ८ ) समाहितैः अपि—एकाग्र मनवाले योगियों द्वारा भी । यहाँ 'समाहित' की 'समाहित चित्तवाला' में लक्षणा की जाती है । समाहित = सम् + आ + √धा + क्त ( कर्तरि ) ।

( ९ ) अनिरूपितः—अज्ञात, अगृहीत । 'त्वम्' का विशेषण है । न निरूपितः = अनिरूपितः ( नञ् तत्पु० ) । निरूपित = नि + रूप + णिच् + क्त ( कर्मणि ) ।

( १० ) त्वम्—तुम, आप ।

( ११ ) हे ईश – हे ईश्वर, हे भगवान् ।

( १२ ) मादृशाम् —मुझ जैसों के । मुझ जैसे जो देखते हैं उनकी । अहमिव पश्यन्ति इति अस्मद् + दृश् + क्विन् ( कर्तरि ) मादृशः, तेषाम् ।

( १३ ) दृशः पदं—दृष्टि के विषय । दृशः—दृश्, ष० ए० व० ।

( १४ ) कथं स्याः—कैसे होते । स्याः—√अस् + लिङ् ( यास् ) म० पु० ए० व० ।

व्याकरण—निजौजसा—निजं च तत् ओजः च निजौजः, तेन ( कर्मधा० ) । यहाँ—'न उपाजिहीथाः, तर्हि·······कथंस्याः' यह प्रयोग लृङ् के अर्थ में हुआ है ।

कोश—'ओजो दीप्तौ बले', 'ईक्षणं चक्षुरक्षिणी,' 'दृग्दृष्टी'—इति च अमरः ।

हे श्रीकृष्ण दुष्ट-निग्रह का अधिकार ( सामर्थ्य ) आपका ही है,—यह वर्णन करते हैं—

ननु कोऽयं नियमो यन्ममैवायं दुष्टनिग्रहाधिकार इत्याशङ्क्यानन्यसाध्यत्वमेवाह—

उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतै-
स्त्वमेव विश्वम्भर ! विश्वमीशिषे ।
ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः
क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः ॥३८॥

अन्वय—( हे ) विश्वम्भर, मदोद्धतैः, उपप्लुतं, अदः, विश्वं, पातुं, त्वं, एव, ईशिषे, क्षपातमस्काण्डमलीमसं, नभः, क्षालयितुं, रवेः, ऋते, कः, क्षमेत ॥ ३८ ॥

अनुवाद--हे जगत्पालक ! मदोद्धत कंसादि के द्वारा पीड़ित इस जगत् का रक्षण करने के लिए आप ही समर्थ हैं। रात्रि के अन्धकारसमूह से मलिन आकाश को निर्मल बनाने के लिए सूर्य के बिना कौन समर्थ होगा ? अन्य कोई नहीं ॥ ३८ ॥

सर्वङ्कषा—उपप्लुतमिति ॥ विश्वं विभर्तीति विश्वम्भरस्तत्सम्बुद्धौ हे विश्वम्भर ! विश्वत्रातः। संज्ञायां 'भतृवृजि'--इत्यादिना खच्प्रत्यये मुमागमः। मदोद्धतैः कंसादिभिरुपप्लुतं पीडितम् अदो विश्वं पातुं त्वमेव ईशिषे शक्तोऽसि। विश्वम्भरत्वादिति भावः। ईश ऐश्वर्ये लटि थासि रूपम्। अत्र वैधर्म्येण दृष्टान्तमाह--क्षपायास्तमस्काण्डैस्तमोवर्गैः। 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु' इत्यमरः। कस्कादिषु च' इति विसर्जनीयस्य सत्वम्। मलीमसं मलिनम्। 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः। 'ज्योत्स्नातमिस्रा'--इत्यादिना मत्वर्थीयो निपातः। नभः क्षालयितुं रवेः ऋते रविं विना। 'अन्यारादितरर्ते--इति पञ्चमी। कः क्षमेत शक्नुयात्। न कोऽपीत्यर्थः। अत्र वाक्यद्वये समानधर्मस्यैकस्य ईशिषे क्षमेतेति शब्दद्वयेन वस्तुभावेन निर्देशात् तत्रापि व्यतिरेकमुखत्वाद् वैधर्म्येण प्रतिवस्तुपमालङ्कारः। तदुक्तम्—सर्वस्य वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वयेन पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा ॥ ३८ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) विश्वम्भर--हे जगत् का पालन करनेवाले भगवान्। 'विश्वं विभर्ति' इस अर्थ में विश्व + √भृ + खच् ( कर्तरि--संज्ञा अर्थ में )। ( उपपद तत्पु० )।

( २ ) मदोद्धतैः--उन्मत्त। तृ० व० व०। यह पद कंस आदि दुष्टों के लिए प्रयुक्त हुआ है। उद्धत = उत् + हन् + क्त ( कर्तरि )। मद + उद्धत।

( ३ ) उपप्लुतम्--पीड़ित। 'विश्वम्' का विशेषण है। उप + प्लुतम्। प्लुत = प्लु + क्त ( कर्मणि )।

( ४ ) अदः विश्वम् पातुम्—इस संसार को बचाने के लिए। पातुम् = पा + तुमुन्।

( ५ ) त्वम् एव—आप ही। अर्थात् दूसरा कोई नहीं। 'त्वम्' ईशिषे क्रिया का कर्ता है।

( ६ ) ईशिषे—समर्थ हैं। √ईश् + लट्, म० पु० ए० व०।

( ७ ) क्षपातमस्काण्डमलीमसम्—रात्रि के अन्धकारसमूह से मलिन हुए। 'नभः' का विशेषण है।

क्षपा + ( तमस् + काण्ड ) + मलीमसम्। मलीमस = 'मल है जिसमें' इस अर्थ में—मल + ईमसच् ( मत्वर्थ निपातन होने से) = मलीमसम् रूप बनता है। 'तमस्काण्ड' निस् समास है।

( ८ ) नभः—आकाश को। क्षालन-क्रिया का कर्म है।

( ९ ) क्षालयितुम्—निर्मल करने के लिए, प्रकाशित करने के लिए। 'क्षल्' का अर्थ धोना होता है, पर यहाँ लक्षणा से उक्त अर्थ लिया गया है। √क्षल् + णिच् ( स्वार्थे ) + तुमुन्।

( १० ) रवेः ऋते—सूर्य के विना। ऋते—विनार्थक अव्यय। 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' से ऋते के योग में 'रवि' को पञ्चमी हुई है।

( ११ ) कः क्षमेत—कौन समर्थ होवे; अर्थात् कोई नहीं। क्षमेत—क्षम + लिङ्, प्र० पु० ए० व० ( आत्मनेपद )।

व्याकरण—मदोद्धतैः—मदेन उद्धताः, तैः ( तत्पु० )। क्षपातमस्काण्डमलीमसम्—क्षपायाः तमस्काण्डः क्षपातमस्काण्डः, तेन मलीमसम् ( तत्पु० )।

कोश—'दर्पोऽवलेपोवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयोमदः', भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः'—इति च अमरः।

अलंकार—यहाँ 'ईशिषे' और 'क्षमेत' इन दो वाक्यों में एक ही धर्म ( समर्थत्व ) को दो प्रकार से कहा गया है; अतः यहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार है। 'वाक्ययोरर्थसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता' ( चन्द्रालोक )।

अपार सामर्थ्यवाले आपकी अल्प पराक्रम से लोगों द्वारा की जानेवाली स्तुति प्रकारान्तर से आपका तिरस्कार ही है, यह वर्णन करते हैं—

करोति कंसादिमहीभृतां वधाज्-
जनो मृगाणामिव यत् तव स्तवम् ।
हरे! हिरण्याक्षपुरस्सरासुर-
द्विपद्विषः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया ॥३९॥

**अन्वय**—जनः, मृगाणां, इव, कंसादिमहीभृतां, वधात्, यत्, तव, स्तवं, करोति, ( हे ) हरे, हिरण्याक्षपुरस्सरासुरद्विपद्विषः ( तव ) सा, प्रत्युत, तिरस्क्रिया ॥३९॥

**अनुवाद**—हे हरे ! मृगों के समान तुच्छ कंस आदि राजाओं का वध करने के कारण लोग आपकी जो स्तुति करते हैं, वह हिरण्याक्ष आदि असुररूपी हाथियों का वध करनेवाले आपका ( प्रकारान्तर से ) तिरस्कार ही है ॥३९॥

**सर्वङ्कषा**—करोतीति ॥ किञ्च जनो मृगाणामिव कंसादिमहीभृतां वधाद्धेतोः स्तवं स्तोत्रम् । 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः । करोतीति यत् । हे हरे ! हे कृष्ण ! हे सिंहेति च गम्यते । सा स्तुतिक्रिया हिरण्याक्षपुरस्सरा हिरण्याक्षप्रभृतयो येऽसुरास्त एव द्विपास्तेषां द्विपः । हन्तुरित्यर्थः । तस्य तव प्रत्युत वैपरीत्येन 'प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्ये' इति गणव्याख्यानात् । तिरस्क्रिया अवमानः । यदिति सामान्ये नपुंसकम् । सेति विधेयलिङ्गम् । गजघातिनः सिंहस्य मृगवधवर्णनमिव महासुरहन्तुस्तव कंसादिक्षुद्रनृपवधवर्णनम् तिरस्कार एवेत्यर्थः । अत्रासुरद्विपानामिति हरिवद्धरिरिति श्लिष्टपरम्परितरूपकं मृगाणामिवेत्युपमयाऽङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्त्यते ॥३९॥

**सारग्राहिणी**—( १ ) जनः—लोग । जन, लोक इत्यादि शब्द एकवचन में प्रयुक्त होने पर भी बहुवचन का अर्थ देते हैं ।

( २ ) मृगाणाम् इव—हिरणों के समान । यहाँ कंस आदि राजाओं को मृग का साम्य दिया गया है; अतः यहाँ 'उपमा' अलंकार है ।

( ३ ) कंसादिमहीभृतम्—कंस आदि राजाओं का । कंस + आदि + महीभृत् । ष० ब० व० । 'मही को धारण करनेवाले' इस अर्थ में मही + भृ + क्विप् ( तुक् ) = महीभृत् ।

( ४ ) वधात्—वध करने के कारण। हेतु में पञ्चमी हुई है।

( ५ ) यत् तव स्तवम्—जो तुम्हारी स्तुति। यहाँ इस प्रथम वाक्य में 'यत्' का प्रयोग होने से बादवाले वाक्य में 'तत्' का आक्षेप किया जाता है। स्तवम् = √स्तु + अप्।

( ६ ) करोति—करते हैं। इस क्रिया के कर्ता 'जनः' का बहुवचनी अर्थ लेने के कारण इसका भी बहुवचनी अर्थ लेना उचित है। √कृ + लट्, प्र० पु० ए० व०।

( ७ ) हरे—हे हरि, श्रीकृष्ण।

( ८ ) सा—वह। विधेय रूप में प्रयुक्त 'तिरस्क्रिया' का विशेषण है।

( ९ ) हिरण्याक्षपुरस्सरासुरद्विपद्विषः—हिरण्याक्षप्रभृति असुररूपी हाथियों का वध करनेवाले के। "तव' का विशेषण है; यहाँ पूर्ववाक्य में प्रयुक्त 'तव' का आक्षेप कर लेना चाहिए। हिरण्याक्ष + पुरस्सर + असुर + द्विप + द्विष्। पुरस्सर—'पुरः अग्रेसरति' इस अर्थ में पुरस् = √सृ + ट ( कर्तरि )। द्विप—'द्वाभ्यां पिवति' इस अर्थ में द्वि √पा + क ( कर्तरि )। तव।

( १० ) प्रत्युत—अपितु, बल्कि। अव्यय। इनका प्रयोग उक्त वैपरीत्य को प्रदर्शित करने के लिए होता है।

( ११ ) तिरस्क्रिया—तिरस्कार है। तिरस् + क्रिया। तिरस्—अव्यय है। तिरस् + √कृ + श ( भावे ) + टा = तिरस्क्रिया।

व्याकरण—कंसादिमहीभृताम्—कंसः आदिः येषां ते कंसादयः, कंसादयश्च से महीभृतश्च तेषाम् ( बहु० गर्भ तत्पु० )। हिरण्याक्षपुरस्सरासुरद्विपद्विषः—हिरण्याक्षः पुरस्सरः येषां ते हिरण्याक्षपुरस्सराः, ते च ते असुराः हिरण्याक्षपुरस्सरासुराः, ते एव द्विपाः ( मतान्तर में ते द्विपाः इव ) तान् द्वेष्टि इति हिरण्याक्षपुरस्सरासुरद्विपद्विप, तस्य ( बहुव्रीहि गर्भ तत्पु० )।

कोश—'मृगे कुरङ्गवातायुहरिणाजिनयोनयः' 'द्विरदोऽनेकपो द्विपः'—इति च अमरः।

अलंकार—यहाँ हिरण्याक्षपुरस्सरद्विपद्विपः में मल्लिनाथ के मत में रूपक अलंकार है। वे इस श्लोक में श्लिष्टपरम्परित रूपक पर ध्यान देते हैं। अन्य टीकाकार भी यहाँ इस पद में रूपक ही मानते हैं। S. R. Ray इस पद में 'उपमा' मानते हैं। उनका अभिमत है कि यहाँ 'उपमा' मानने से एकरूपता आती है। वे लिखते हैं—It seems better, for uniformity's sake to say here असुरा द्विपा इव Malli prefeas a रूपक कर्मधा-because he has made up his mind to have a श्लिष्टपरम्परितरूपक in the verse. It seems better to have उपमा and श्लेष instead.

अब नारदमुनि अपने आगमन-प्रयोजन को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

एवं स्तुत्य देवमभिमुखीकृत्यागमनप्रयोजनं वक्तुमुपोद्घातयति—

प्रवृत्त एव स्वयमुज्झितश्रमः
क्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामसि।
तथापि वाचालतया युनक्ति मां
मिथस्त्वदाभाषणलोलुपं मनः ॥४०॥

अन्वय—उज्झितश्रमः (सन्), क्रमेण, भुवनद्विषां, पेष्टुं, स्वयं, एव, प्रवृत्तः, असि, तथापि, मिथः, त्वदाभाषणलोलुपं, मनः, मां, वाचालतया, युनक्ति ॥४०॥

अनुवाद—यद्यपि आप परिश्रम त्यागे हुए होकर क्रम से संसार से द्वेष करनेवालों (असुरों तथा दुष्टों) को मारने के लिए स्वयं ही प्रवृत्त हुए हैं, तथापि एकान्त में आपसे वार्तालाप में लोभी मेरा मन मुझे वाचालता से जोड़ रहा है ॥४०॥

सर्वङ्कषा—प्रवृत्त इति ॥ त्वमुज्झितश्रमस्त्यक्तश्रमः सन् क्रमेण भुवनानि द्विषन्तीति भुवनद्विषो दुष्टास्तेषां पेष्टुम्। तान् हिंसितुमित्यर्थः। 'जासिनि प्रहण'-इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी। स्वयमपरप्रेरित एव प्रवृत्तोऽसि। एवं तर्हि पिष्टपेषणं किमिति चेत् तत्राह—तथापि स्वतः प्रवृत्तेऽपि मिथो रहसि त्वदाभाषणे त्वया सह संलापे लोलुपं लुब्धम्। लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक् समौ लोलुपलोलुभौ'

इत्यमरः। मनो मां वाचालतया सह युनक्ति। वाचालं करोतीत्यर्थः। वाचो बह्व्योऽस्यसन्तीति वाचालः। 'आलजाटचौ बहुभाषिणि' इत्यालच्। 'स्वाज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्' इत्यमरः ॥४०॥

सारग्राहिणी—( १ ) उज्झितश्रमः—त्यागे हुए परिश्रमवाले ( आप )। उज्झित + श्रम। उज्झित = उज्झ् + क्त ( कर्मणि )। यहाँ मूल में 'असि' क्रियापद होने के कारण 'त्वम्' का आक्षेप होता है, किन्तु जैसा पहले ही निर्देश किया जा चुका है, श्रीकृष्ण आदरणीय होने के कारण सर्वत्र उनके लिए प्रयुक्त 'त्वम्' का अर्थ आप किया गया है।

( २ ) क्रमेण—क्रम से। करण में तृतीया। √क्रम + घञ् ( भावे ) तृ० ए० व०।

( ३ ) भुवनद्विषाम् पेष्टुम्—जगत् से द्वेष करनेवाले को मारने के लिए। 'भुवनानि द्विषन्ति' इस अर्थ में भुवन + द्विष् + क्विप् ( कर्तरि )। ष० व० व० ( उपपद तत्पु० )। यहाँ 'जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्' से कर्म को षष्ठी हुई है। पेष्टुम्—√पिष् + तुमुन् ( भावे )।

( ४ ) स्वयम् एव—स्वयं ही। बिना किसी द्वारा प्रेरित होकर ही।

( ५ ) प्रवृत्तः असि—प्रवृत्त हुए हैं। त्वम् प्रवृत्तः असि, भवान् प्रवृत्तः अस्ति। प्र + वृत् + क्त ( कर्तरि ) = प्रवृत्त।

( ६ ) तथापि—तो भी। यहाँ 'तथापि' का प्रयोग होने से पूर्ववाक्य में यद्यपि का आक्षेप किया जाता है।

( ७ ) मिथः—एकान्त में। एकान्त आदिवाचक 'अव्यय' है।

( ८ ) त्वदाभाषणलोलुपम्—आपके साथ वार्तालाप करने में लोभी। यह 'मनः' का विशेषण है। त्वत् + आभाषण + लोलुपम्। आभाषण = आ + भाष् + ल्युट् ( भावे )। लोलुप—'गर्हित रूप से लुम्पन करता है' इस अर्थ में √लुप + यङ् + अच् ( कर्तरि )।

( ९ ) मनः—मेरा मन। यहाँ प्रकरण से 'नारद' ( वक्ता ) का मन ही लिया है।

( १० ) माम्—मुझको; अर्थात् नारद को ।

( ११ ) वाचालतया—वाचालता से । सहार्थे तृतीया ।

( १२ ) युनक्ति—जोड़ रहा है। √युज् + लट्, प्र० पु० ए० व० । रुधादि । इसका कर्ता 'मनः' है ।

व्याकरण— उज्झित श्रमः = उज्झितः श्रमः येन सः । ( बहु० ) । त्वदाभाषणलोलुपम्—त्वया सह आभाषणम् = त्वदाभाषणम्, त्वदाभाषणे लोलुपम् ( तत्पु० )।

कोश—'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः', 'मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि'—इति च अमरः ।

सब कार्यों में अग्रणी आप ( श्रीकृष्ण ) इन्द्र का सन्देश सुनें, ऐसी प्रार्थना नारदमुनि करते हैं—

अथ स्ववाक्यश्रवणं सहेतुकं प्रार्थयते—

तदिन्द्रसन्दिष्टमुपेन्द्र ! यद्वचः
क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते ।
समस्तकार्येषु गतेन धुर्यता
महिद्विषस्तद्भवता निशम्यताम् ॥४१॥

अन्वय—तत्, ( हे ) उपेन्द्र, इन्द्रसन्दिष्टं, विश्वजनीनं, यद्वचः, क्षणं, मया, उच्यते, तत्, अहिद्विषः, समस्तकार्येषु, धुर्यतां, गतेन, भवता, निशम्यताम् ॥४१॥

अनुवाद—अतः हे उपेन्द्र ! इन्द्र द्वारा सन्दिष्ट लोककल्याणकारक जिस वचन को मैं क्षणभर कह रहा हूँ, सब कार्यों में अग्रणी ( अग्रगामिता को प्राप्त हुए ) आप द्वारा इन्द्र का वचन सुना जावे ॥४१॥

सर्वङ्कषा—तदिन्द्रेति ॥ तत् तस्मात् इन्द्रमुपगतः उपेन्द्र इन्द्रावरजः। अत एवेन्द्रसन्दिष्टम्। श्रोतव्यमिति भावः। किञ्च विश्वस्मै जनाय हितं विश्वजनीनम्। 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः।' यद् वचः क्षणं न तु चिरं मयोच्यते, तद् वचोऽहिद्विषो वृत्रघ्नः। 'सर्पे वृत्रासुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती। समस्तकार्येषु धुर्यतां धुरन्धरत्वं गतेन। अतोऽपि भवता निशम्यताम्। प्रार्थनायां लोट्। धुरं वहतीति धुर्यः। 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्ययः। स्फुटमत्रपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः ॥ ४१ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) तत् हे उपेन्द्र—तो हे श्रीकृष्ण! श्रीकृष्ण वामन अवतार में कश्यप-अदिति से उत्पन्न इन्द्र के छोटे भाई थे; अतः, उन्हें 'उपेन्द्र' कहा जाता है। उप + इन्द्रः = उपेन्द्रः—उपगतः इन्द्रम्।

( २ ) इन्द्रसन्दिष्टम्—इन्द्र द्वारा सन्देश दिये हुए। 'वचः' का विशेषण है। इन्द्र + सन्दिष्टम्। सन्दिष्ट = सम् + √दिश + क्त ( कर्मणि )।

( ३ ) विश्वजनीनम्—संसार का हित करनेवाले। यह भी 'वचः' का विशेषण है। विश्वः जनः विश्वजनः। 'विश्वजन के लिए हितकारी' इस अर्थ में विश्वजन + ख ( ईन )—विश्वजनीन।

( ४ ) यद् वचः—जो वचन। 'उच्यते' का कर्म है।

( ५ ) मया—मेरे द्वारा। वचन-क्रिया का कर्ता है।

( ६ ) उच्यते—कहा जा रहा है। वच् + यक् ( कर्मणि ) + लट्, प्र० पु० ए० व०।

( ७ ) तद्—वह। 'वचः' के लिए प्रयुक्त हुआ है।

( ८ ) अहिद्विषः—इन्द्र का। अहि + द्विष्, ष० ए० व०। 'अहिं द्विष्टवान्' इस अर्थ में अहि + द्विष् + क्विप् ( कर्तरि )।

( ९ ) समस्तकार्येषु—सब कार्यों के विषय में। स० व० व०। यह 'विषय सप्तमी' है।

( १० ) धुर्यताम् गतेन—अग्रगामिता को प्राप्त हुए। धुर्यता—'धुरं वहति' इस अर्थ में √धुर + यत् = धुर्यः तस्य भावः—धुर्य + तल् + टाप्। गतेन—√गम् + क्त, तृ० ए० व०; यह 'भवता' का विशेषण है।

( ११ ) भवता—आपके द्वारा । यह 'निशमन' क्रिया का कर्ता है । भवत्, तृ० ए० व० ।

( १२ ) निशम्यताम्—सुना जावे । नि + शम् + यक् + लोट्, प्र० पु० ए० व० । ( कर्मणि ) ।

कोश—'सर्पेवृत्रासुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती । 'विश्वमशेषं कृत्स्नं समस्तनिखिलाखिलानिनिःशेषम्'—इति अमरः ।

अब नारदमुनि शिशुपाल का अन्यावध्यत्व और आप द्वारा (श्रीकृष्ण द्वारा) अवश्यवध्यत्व बतलाने के लिए उसका प्राग्जन्म-वीर्य-वर्णन करते हैं—

अथ शिशुपालो हन्तव्य इति वक्तुं तस्यावश्यवध्यत्वेऽनन्यवध्यत्वज्ञापनौपयिकतया औद्धत्यप्रकटनार्थं जन्मान्तरवृत्तान्तं तावदुद्घाटयति—

अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां
भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः ।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरे-
र्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ।। ४२ ।।

अन्वय—प्रतिपक्षजन्मनां, भियां, अभूमिः, तपनद्युतिः, दितेः, तनूजः, अभूत्, हरेः, इन्द्रशब्दार्थनिषूदनं, यं, हिरण्यपूर्वं, कशिपु, प्रचक्षते ।। ४२ ।।

अनुवाद—शत्रुओं से उत्पन्न होनेवाली भीतियों का अविषय, सूर्य के समान तेजस्वी दिति का पुत्र हुआ; इन्द्र के 'इन्द्र' शब्द के अर्थ का ( ऐश्वर्य का ) नाश करनेवाले जिसको लोग 'हिरण्य + कशिपु' कहते हैं ।। ४२ ।।

सर्वङ्कषा—अभूदिति ।। प्रतिपक्षाच्छत्रोः जन्म यासां तासांभियामभूमिरविषयः । निर्भीक इत्यर्थः । तपनद्युतिः सूर्यतापो दितेस्तनूजो दैत्योऽभूत् । कोऽसावत आह—हरेरिन्द्रस्य इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम्, इन्दतीति इन्द्रः, इति परमैश्वर्ये । 'ऋज्रेन्द्र'—इत्यादिना रन्प्रत्ययान्त औणादिकनिपातः । तस्य इन्द्र इतिशब्दस्य इन्द्रइति संज्ञापदस्य योऽर्थः परमैश्वर्यलक्षणस्तस्य निषूदनं निवर्तकम् । कर्तरि ल्युट् । हरेरैश्वर्यनिहन्तारमित्यर्थः । यं दैत्यं हिरण्यशब्दपूर्वं कशिपुसंज्ञं प्रचक्षते । हिरण्यकशिपुमाहुरित्यर्थः । अत्र हिरण्यशब्दपूर्वकत्वं कशिपुशब्दस्यैव

न तु संज्ञिनस्तदर्थस्येति शब्दपरस्य कशिपुशब्दस्यार्थगतत्वेनाप्रयोज्यस्य प्रयोगादवाच्यवचनाख्यार्थदोषमाहुः । 'यदेवावाच्यवचनेमवाच्यैवचनं हि तत्' इति । समाधानमेवंविधविषये शब्दपरेणार्थलक्षणेति सम्पाद्यमित्युक्तमस्माभिः 'देवपूर्वं गिरिं ते' इति 'धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश' इत्येतद्व्याख्यानावसरे सञ्जीविन्यां घण्टापथे च । विशेषश्चात्राऽयमदैत्यमुद्दिश्य हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते संज्ञात्वेन प्रयुङ्क्ते ॥४२॥

सारग्राहिणी—( १ ) प्रतिपक्षजन्मनाम्—शत्रु पक्ष से उत्पन्न० होनेवाली । 'भियाम्' का विशेषण है । प्रतिपक्ष + जन्मन् + टाप् = प्रतिपक्षजन्मा, ष० व० व० ।

( २ ) भियाम्—भीतियों का । भी + क्विप् = ( भावे ) = भीः, ष० व० व० ।

( ३ ) अभूमिः—अविषय । न भूमिः = अभूमिः ( नञ् तत्पु० ) ।

( ४ ) तपनद्युतिः—सूर्य के समान तेजवाला । दितेस्तनुजः का विशेषण है ।

यहाँ 'उपमा' अलंकार है, क्योंकि सूर्य तथा हिरण्यकशिपु में साम्य का सूचक समास है—तपनस्य द्युतिः इव द्युतिः यस्य सः ।

( ५ ) दितेः तनुजः—दिति का पुत्र = दैत्य । दिति कश्यप की अनेक पत्नियों में से एक पत्नी थी । उससे उत्पन्न सन्तानें दैत्य कहलायीं तथा उन्हीं महर्षि की अन्य पत्नी ( अदिति ) से उत्पन्न सन्तानें आदित्य कहलायीं । तनूजः—तनू + √जन् + कः ( कर्तरि ) ।

( ६ ) अभूत्—हुआ । √भू + लुङ्, प्र० पु० ए० व० ।

( ७ ) हरेः—इन्द्र के । 'हरि' इन्द्र का भी वाचक है, देखिए—कोश ।

( ८ ) इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम्—'इन्द्र' शब्द के अर्थ ( ऐश्वर्य ) का नाश करनेवाले । 'यम्' का विशेषण है । इन्द्र + शब्द + अर्थ + निषूदन । 'इन्दति परमैश्वर्यं लभते' इस अर्थ में √इन्द् ऐश्वर्ये + रन् ( कर्तरि )—औणादिक = इन्द्रः । निषूदन—नि + √सूद + णिच् ( स्वार्थे ) + ल्युट् ( कर्तरि ) ।



( ९ ) यम्—जिसको, अर्थात् जिस दैत्य को ।

(१०) हिरण्यपूर्वं कशिपुम्—'हिरण्य' शब्द है पहले जिसके ऐसा कशिपु शब्द (से वाच्य) = हिरण्यकशिपु। यहाँ आपाततः अवाच्य वचन नामक अर्थ-दोष है, किन्तु मल्लिनाथ ने इसका समाधान दिया है और कहा है कि 'हिरण्यपूर्वकशिपु' शब्द की तद्वाच्य में लक्षणा करने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने इसके समर्थन में अपनी टीका से युक्त अन्य काव्यों से उद्धरण भी दिये हैं। देखिये मल्लिनाथी (सर्वङ्कषा)—'समाधानमेवं विषये....विशेषश्चात्र.... संज्ञात्वेन प्रयुङ्क्ते (प्रयुञ्जते) इति।'

(११) प्रचक्षते—कहते हैं। यहाँ 'जनाः' इस कर्ता का आक्षेप किया जाता है। प्र+चक्ष्+लट्, प्र० पु० ब० व०।

**व्याकरण**—प्रतिपक्षजन्मनाम्—प्रतिपक्षात् जन्म यासां ताः तासाम् (बहु०) इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम्—इन्द्रश्चासौ शब्दश्चेति इन्द्रशब्दः तस्य यः अर्थः तस्य निषूदनः तम् (तत्पु०)

**कोश**—'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्', 'तपनः सविता रविः', 'यमानिलेन्द्र-चन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु', 'शुकाहि कपिभेकेषु हरिर्ना कपिलेत्रिषु'—इति च अमरः।

हिरण्यकशिपु द्वारा देवताओं के हृदय में भय का प्रथम प्रवेश कराया गया, यह वर्णन करते हैं—

> समत्सरेणाऽसुरः इत्युपेयुषा,
> चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम्।
> भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना
> मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत ॥४३॥

**अन्वय**—समत्सरेण, असुरः, इति, नाम्नः, चिराय, प्रथमाभिधेयतां, उपेयुषा, तरस्विना, येन, द्युसदां, मनस्सु, भयस्य, पूर्वावतरः, न्यधीयत ॥४३॥

**अनुवाद**—दूसरों के अभ्युदय से मत्सर करनेवाले 'असुर' ऐसे नाम के प्रथम अभिधेयत्व को प्राप्त हुए बलवान् जिसके द्वारा देवताओं के मानसों में भय का प्रथम प्रवेश करा दिया ॥४३॥

सर्वङ्कषा—समत्सरेणेति ॥ समत्सरेणान्यशुभद्वेषसहितेन । 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमरः । अस्यतीत्यसुरः । असेरुरन् । 'असुर' इति नाम्नः चिराय चिरकालेन । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः । प्रथमाभिधेयतामुपेयुषा अन्वर्थतया मुख्यार्थतां गतेन तरस्विना बलवता । 'तरसी बलरंहसी' इतिविश्वः । येन हिरण्यकशिपुना । दिवि सीदन्तीति तेषां द्युसदां देवानां मनस्सु भयस्य पूर्वावतरः प्रथमप्रवेशः । 'ऋदोरप् ।' न्यधीयत् निहितः । धात्रः कर्मणि लङ् । अस्मादेव देवानां प्रथमं भयस्योत्पत्तिरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) समत्सरेण—दूसरों के शुभ के द्वेषी । तृ० ए० व० । 'येन' का विशेषण है ।

( २ ) 'असुरः' इति—'असुर' इस प्रकार । जो सुर नहीं है वह असुर । असुर = 'अस्यति—फेंकता हैं' इस अर्थ में अस् क्षेपे ( दिवादि ) + उरन् ( कर्तरि, उणादि ) । यहाँ इति के योग में प्रथमा हुई है ।

( ३ ) नाम्नः—नाम के । 'नामन्', नपुं० ष० ए० व० ।

( ४ ) प्रथमाभिधेयताम्—प्रथम अभिधेयत्व को । अभिधेयता = अभि = √धा + यत् ( कर्मणि )—अभिधेय, तस्य भावः—तल् + टाप् ।

( ५ ) उपेयुषा—प्राप्त किये हुए । 'येन' का विशेषण है । उप + √इ + लिट् के स्थान में क्वसु = उपेयिवस्, तृ० ए० व० । 'येन' का विशेषण ।

( ६ ) तरस्विना येन – बलवान् जिसके द्वारा । 'तरस् है जिसमें' इस अर्थ में तरस् + विनि ( मत्वर्थप्रत्यय ), तृ० ए० व० ।

( ७ ) द्युसदाम्—देवताओं के । 'दिवि सीदन्ति' स्वर्ग में रहते हैं, इस अर्थ में दिव् √सद् + क्विप् ( कर्तरि ), ष० व० व० ।

( ८ ) मनस्सु—मानसों में । मनस्, नपुं० स० व० व० ।

( ९ ) भयस्य पूर्वावतरः—भय का प्रथम प्रवेश । पूर्व + अवतर; अवतर = अव + तृ + अप् ( भावे ) ।

( १० ) न्यधीयत—किया, रक्खा गया । नि + √धा + लङ् + ( कर्मणि ) प्र० पु० ए० व० ।

व्याकरण — समत्सरेण—मत्सरेण सहितः तेन ( तत्पु० )। प्रथमाभिधेयताम्—प्रथमं च तदभिधेयं च इति प्रथमाभिधेयं तस्य भावस्ताम् ( तत्पु० )।

कोश—'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इति अमरः। 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः। 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः', 'द्यो दिवौ द्वे स्त्रियाम्', 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः'—इति च अमरः।

अब हिरण्यकशिपु द्वारा दिक्पालों को जीतने का वर्णन नारदमुनि करते हैं—

दिशामधीशांश्चतुरो यतः सुरा-
नपास्य तं रागहृताः सिषेविरे।
अवापुरारभ्य ततश्चला इति
प्रवादमुच्चैरयशस्करं श्रियः॥ ४४॥

अन्वय—श्रियः, यतः, चतुरः, दिशां, अधीशान्, अपास्य, तं, रागहृताः, सिषेविरे, ततः, आरभ्य, अयशस्करं, उच्चैः, चला, इति, प्रवादं, अवापुः॥४४॥

अनुवाद—जब सम्पत्तियाँ दिशाओं के अधीश्वर चार देवों को ( इन्द्रादि लोकपालों को ) त्याग कर हिरण्यकशिपु के अनुराग से आकृष्ट होकर उसकी सेवा करने लगीं, तभी से 'लक्ष्मी चञ्चला है' ऐसे महान् लोकापवाद को उन सम्पत्तियों ने प्राप्त किया॥४४॥

सर्वङ्कषा—दिशामिति॥ श्रियः सम्पदो यतः यदेत्यर्थः, दिशामधीशान् दिक्पतीनपि चतुरः सुरानिन्द्रवरुणयमकुबेरानपास्य त्यक्त्वा तं हिरण्यकशिपुं रागहृताः रागकृष्टाः सत्यः। न तु बलादिति भावः। सिषेविरे। यतो वीरप्रियाः श्रिय इति भावः। तत आरभ्य तदाप्रभृति अयशः करोतीत्ययशस्करम्। दुष्कीर्तिहेतुमित्यर्थः। 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति टप्रत्ययः। 'अतः कृकमि'— इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वम्। उच्चैः प्रचुरं चला अस्थिरा इति प्रवादं जनापवादमवापुः। दिगीशानामपि सर्वस्वहारित्वात् तदौद्धत्यस्य प्राकट्यमिति भावः॥ ४४॥

· सारग्राहिणी—( १ ) श्रियः—सम्पत्तियाँ। सेवन-क्रिया की कर्त्री। यहाँ श्री शब्द के बहुवचनी प्रयोग से ज्ञात होता है कि ये श्री-विष्णुपत्नी लक्ष्मी से भिन्न हैं। देखिये S. R. Ray की 'Charcha'—The plural is on the supposition that श्री is different with these four different individuals".

( २ ) दिशाम् अधीशान्—दिक्पाल। इन्द्र, यम, वरुण तथा कुबेर क्रमशः–पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिक् के अधिप माने जाते हैं।

( ३ ) चतुरः सुरान्—चार देवों को। ये चार देव पद ( २ ) की व्याख्या में बतलाये जा चुके हैं।

( ४ ) अपास्य—त्यागकर। अप + √अस् क्षेपे (दिवादि) + ल्यप्।

( ५ ) तम्—उसे। हिरण्यकशिपु को—हिरण्यकशिपु प्रकान्त होने से 'तत्' पद से उसी का ग्रहण होता है। यह 'सेवन' क्रिया का कर्म है।

( ६ ) सिषेविरे—सेवन करने लगीं। इसका कर्त्ता 'श्रियः' है। √सेव + लिट् ( आत्मने० ) प्र० पु० ब० व०।

( ७ ) ततः आरभ्य—उस समय से लेकर। यहाँ 'अपादान' में पञ्चमी हुई है। देखिये S. R. Ray की 'Charcha'—'आरभ्य implies progress, hence, अपाय also।'

( ८ ) अयशस्करम्—अपकीर्तिकारक। 'प्रवादम्' का विशेषण है। 'अयशः करोति' इस अर्थ में अयशस् + कृ + ट ( कर्तरि ) = अयशस्करम्। यहाँ 'अयशस्' में नञ् तत्पुरुष है और वह 'विरोध अर्थ' में है। अर्थात् 'यशोविरोधि इति अयशः।' नञ् के छः अर्थ कहे जाते हैं; 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥'

( ९ ) 'चलाः' इति—चञ्चल हैं; अर्थात् 'सम्पत्तियाँ चञ्चल होती हैं' इस प्रकार के। 'इति' के योग में प्रथमा हुई है।

( १० ) उच्चैः—महान्। 'प्रवादम्' का विशेषण है। यह अव्यय होने से इसमें अन्य कोई विभक्ति-भिन्नरूप नहीं बनता।

( ११ ) प्रवादम्—लोकापवाद को। प्र + √वद् + घञ् ( कर्मणि )।

( १२ ) अवापु.—प्राप्त किया। अर्थात् उन सम्पत्तियों ने पूर्वोक्त प्रवाद को प्राप्त किया। अव + √आप् + लिट्; प्र० पु० ब० व०।

कोश—'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च', 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः'—इति च अमरः।

हिरण्यकशिपु के भय से देवों ने अपने आयुध आदि को सज्ज बनाया, यह वर्णन करते हैं—

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं
बलानि शूराणि घनाश्च कञ्चुकाः।
स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां
गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे ॥ ४५ ॥

अन्वय—नाकिनां, गणैः, यं, आशङ्क्य, तदादि, स्वरूपशोभैकफलानि, पुराणि, दुर्गाणि, आयुधं, निशातं, बलानि, शूराणि, कञ्चुकाः, च, घनाः, चक्रिरे ॥ ४५ ॥

अनुवाद—देवताओं के समूहों द्वारा हिरण्यकशिपु से बाधक रूप से शंकित होकर उस समय से स्वरूप के शोभा मात्र फलवाले नगरों को परिखा आदि से अगम्य, आयुधों को तेज, सैन्यों को शूर तथा कवचों को दुर्भेद्य बनाया गया है ॥ ४५ ॥

सर्वङ्कषा—पुराणीति ॥ किञ्च नाकिनां सुराणां गणैः यं हिरण्यकशिपुमाशङ्क्य बाधकत्वेनोत्प्रेक्ष्य स कालः आदिर्यस्मिस्तदादि तदाप्रभृति स्वरूपशोभैकफलं मुख्यं प्रयोजनं येषां तेषां सुरादीनां तानि तथोक्तानि। प्रागीदृगसाध्यशत्रोरभावादिति भावः। 'नपुंसकमनपुंसकेन'—इत्यादिना नपुंसकशेषः। पुराणि दुर्गाणि प्राकारपरिखादिना अगम्यानि चक्रिरे। 'सुदुरोरधिकरणे' इति गमेर्डः। आयुधं निशातं निशितं चक्रे इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः। 'शो तनूकरणे' इति धातोः क्तः। 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' इतीत्वविकल्पात् पक्षे आत्वम्। बलानि सैन्यानि शूराणि शौर्यवन्ति चक्रिरे सम्पादितानि। कञ्चुका वारवाणाः लोह-

वर्माणीत्यर्थः । 'कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री' इत्यमरः। घना दुर्भेदाश्चक्रिरे। इत्थं नित्यसन्नद्धा जाग्रति स्मेत्यर्थः ॥ ४५ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) नाकिनाम्—देवों के। नाकिन्, प० व० व०। क=सुख। न कम् अकम्=दुःखं (नञ् तत्पु०)। अविद्यमानम् अकं यस्मिन् सः नाकः स्वर्गलोकः, सः अस्ति वासत्वेन (निवासस्थान) येषां ते=नाकिनः ( बहु० )।

( २ ) गणैः—समूहों द्वारा। गण, पुं० तृ० ब० व०।

( ३ ) यम् आशङ्क्य—जिसके बारे में यह बाधक है, ऐसी शंका करके। यहाँ 'यम्' 'आशंकन' क्रिया का कर्म है। आशङ्क्य = आ + शङ्क्य + ल्यप्।

( ४ ) तदादि—उसी समय से। सः आदिः यस्मिन् तत् ( बहु० )।

( ५ ) स्वरूपशोभैकफलानि—स्वरूप की शोभा मात्र है फल जिनका वे। 'पुराणि' का विशेषण है। स्वरूप + शोभा + एक + फल। शोभा = शुभ + अल् ( भावे )। एक शब्द का यहाँ 'मुख्य' अर्थ है। यह पद यद्यपि प्रमुखरूप से 'पुराणि' का विशेषण है, तथापि 'वचन विपरिणाम' करके यह आयुध, बल तथा कञ्चुक का भी विशेषण बनता है।

( ६ ) पुराणि दुर्गाणि—( चक्रिरे )—इन्द्रपुरी, अलका आदि नगरियाँ अगम्य बनायी गयी हैं। दुर्गाणि—'दुःखेन गच्छन्ति एषु इति अर्थे' दुर् + गम् + ड ( अधिकरणे )।

( ७ ) आयुधं निशातं ( चक्रे )—आयुध तेज बनाया गया। यहाँ 'आयुधम्' में जातावेकवचन हुआ है। आयुध—'आयुध्यते अनेन' इस अर्थ में आ + √युध् + क ( करणे ) 'घञर्थे कविधानम्।' निशात – नि + √शा तनूकरणे + क्त ( कर्मणि )।

( ८ ) बलानि शूराणि ( चक्रिरे )—सैन्य शूर बनाये गये।

( ९ ) कञ्चुकाः च घनाः चक्रिरे—और कवच दुर्भेद्य बनाये गये। चक्रिरे—कृ + लिट्, प्र० पु० ब० व०।

व्याकरण—स्वरूपशोभैकफलानि—स्वरूपेण या शोभा = स्वरूपशोभा, सैव फलं येषां तानि ( बहु० )।

कोश—'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः', 'समवायश्चयो गणः', 'अनीकिनीवलं सैन्यम्', 'कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री'—इति च अमरः।

उसके द्वारा जिस दिशा में जाया जाता था, देवता उस दिशा को नमस्कार करते थे—यह वर्णन किया जा रहा है—

स सञ्चरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां
यदृच्छयांऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खल-
त्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥४६॥

अन्वय—भुवनान्तरेषु, सञ्चरिष्णुः, श्रियः आश्रयः, सः, यदृच्छया, यां, अशिश्रियत्, मुकुटोपलस्खलत्करैः, त्रिदशैः, तस्यै, दिशे, त्रिसन्ध्यं, नमः, अकारि ॥ ४६ ॥

अनुवाद—सभी लोकों में सञ्चरणशील राज्यलक्ष्मी का आश्रय वह स्वेच्छा से जिस दिशा को आश्रित करता था, मुकुट के रत्नों पर रक्खे हुए हाथवाले देवों द्वारा प्रातः मध्याह्न तथा सायं उसी दिशा के लिए नमस्कार किया जाता था ॥ ४३ ॥

सर्वङ्कषा—स इति ॥ अन्येषु भुवनेषु भुवनान्तरेषु। 'सुप्सुपा' इति समासः। सञ्चरिष्णुः सञ्चरणशीलः। 'अलंकृञ्'—इत्यादिना चरेरिष्णुच्। श्रियो लक्ष्म्या आश्रयः स हिरण्यकशिपुः यदृच्छया स्वैरवृत्त्या। 'यदृच्छा स्वैरवृत्तिः' इत्यमरः। यां दिशमशिश्रियदगमत्। श्रयतेर्लुङ् 'णिश्रि'—इत्यादिना चङि द्विर्भावः इयङादेशः। मुकुटोपलेषु मौलिरत्नेषु स्खलन्तः करा येषां तैः। शिरसि बद्धाञ्जलिभिरित्यर्थः। 'उपलः प्रस्तरे रत्ने' इति विश्वः। तिस्रो दशा वाल्यकौमारयौवनानि जन्मसत्तावृद्धयो वा येषां तैस्त्रिदशैर्देवैः। यद्वा, त्रिर्दश परिमाणमेषामिति 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' इति समासान्तः। तिस्रः सन्ध्याः समाहृतास्त्रिसन्ध्यम्। 'तद्धितार्थोत्तरपद—' इत्यादिना समाहारे द्विगुः, द्विगुरेकवचनम्। वा टाबन्त

इति पक्षे नपुंसकत्वम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। तस्यै दिशे करैर्हस्तैः। 'नमःस्वस्ति'—इत्यादिना चतुर्थी। नमः नमस्कारोऽकारि कृतम् (कृतः)। कृञः कर्मणि लुङ्। चिण् भावकर्मणोः' इति चिण्। सन्ध्यावन्दनेऽपि दिङ्नियमं परित्यज्य तदागमनभयात् तस्यै दिशे नमस्कारः कृत इत भावः॥ ४६॥

सारग्राहिणी—(१) भुवनान्तरेषु—सभी लोकों में। अन्यानि भुवनानि भुवनान्तराणि—अथवा—भुवनानाम् अन्तराणि भुवनान्तराणि तेषु = भुवनान्तरेषु (नित्यसमास)। प्रथम विग्रह में—अन्यान्य भुवनों में; द्वितीय विग्रह में—भुवनों के अवकाश भागों में। सर्वत्रेत्यर्थः।

(२) सञ्चारिष्णुः—सञ्चरणशील। 'सः' का विशेषण है। सम + √चर् + इष्णुच् (कर्तरि) ताच्छील्य अर्थ में।

(३) श्रियः आश्रयः—राज-लक्ष्मी का आश्रय। 'सः' का विशेषण है। आश्रय—आ + श्रि + अच् (कर्मणि)।

(४) सः—वह। प्रकरण से हिरण्यकशिपु।

(५) यदृच्छया—स्वेच्छा से। √ऋच्छगतौ (तुदादि) + अ (भावे) = ऋच्छा। या चासौ ऋच्छा = यदृच्छा (कर्मधा); तृ० ए० व०।

(६) यां दिशम्—जिस दिशा को। दिशम् = दिक्, स्त्री० द्वि० ए० व०।

(७) अशिश्रियत्—आश्रित करता था, जाता था। √श्रि + चङ् + लुङ् (त्), प्र० पु० ए० व०। 'स' इसका कर्ता है।

(८) मुकुटोपलस्खलत्करैः—मुकुट के रत्नों पर रक्खे हुए हाथवाले। 'त्रिदशैः' का विशेषण है। मुकुट + उपल + स्खलत् + कर, तृ० ब० व०। √स्खल् + शतृ = स्खलत्।

(९) त्रिदशैः—देवों द्वारा। तीन दशाएँ—बाल्य-कौमार-यौवन अथवा जन्म-सत्ता-वृद्धि—हैं जिनकी वे उनके द्वारा (बहुब्रीहि), तृ० ब० व०। 'नमः अकारि' क्रिया का कर्ता।

( १० ) त्रिसन्ध्यम्—त्रिकाल—प्रातः-मध्याह्न तथा सायम्। सम्यक् ध्यायति परमात्मानं ( जनः ) अस्याम् = सन्ध्यां। तिसृणां सन्ध्यानां समाहारः त्रिसन्ध्यम् ( समाहार द्विगु )।

( ११ ) तस्यै दिशे—उस दिशा के लिए अर्थात् जिस दिशा में हिरण्यकशिपु जाता था, उसके लिए। 'नमः' के योग में 'नमः स्वस्ति स्वाहा'—इत्यादि से यहाँ चतुर्थी हुई है।

( १२ ) नमः अकारि—नमस्कार किया जाता था। अकारि—√कृ + लुङ् ( स-कर्मणि )।

व्याकरण—मुकुटोपलस्खलत्करैः—मुकुटेषु ये उपला तेषु स्खलन्तः कराः येषां तैः ( बहु० )।

कोश—'त्रिष्वथो जगति लोको विष्टपं भुवनं जगत्', 'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च', 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा', 'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः'—इत्यमरः।

नारदमुनि नरसिंह द्वारा हिरण्यकशिपु के वध का वर्णन करते हैं—
अथ सोऽपि त्वयैव हत इत्याह—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता
नृसिंह ! सैंहीमतनुं तनुं त्वया।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभंगुरै-
रुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥ ४७ ॥

अन्वय—( हे ) नृसिंह, अतनुं, सैंहीं, तनुं, विभ्रता, सटाच्छटाभिन्नघनेन त्वया:, सः, मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरै, नखैः, उरोविदारं, प्रतिचस्करे ॥ ४७ ॥

अनुवाद—हे नरसिंह ! विशाल नर-सिंहात्मक शरीर को धारण करनेवाले, अयालों ( गर्दन के केशों ) के समूह से मेघों को विदीर्ण करनेवाले आप द्वारा वह ( हिरण्यकशिपु ) मुग्ध कान्ता के स्तनों के संसर्ग से वक्र नखों ( कोमल नखों ) से ( उसके ) वक्षःस्थल को फाड़कर मारा गया ॥ ४७ ॥

सर्वङ्कषा—सटाच्छटेति ।। हे नृसिंह ! नरः सिंह इवेत्युपमितसमासः। ना चासौ सिंहश्चेत्यपि, प्रस्तावत् । सिंहस्येमां सैंही तनुं कायं बिभ्रता । नृसिंहावतारभाजेत्यर्थः । किं भूताम्, अतनुं विस्तीर्णाम् । अत एव सटाच्छटाभिः केसरसमूहैः भिन्ना घना मेघा येन। अभ्रङ्कषविग्रहत्वादिति भावः। 'सटा जटाकेसरयोः' इति, 'तनुः काये कृशेऽल्पे च' इति च विश्वः । त्वया स दैत्यः मुग्धौ नवौ । 'मुग्धः सौम्ये नवे मूढे' इति वैजयन्ती । यौ कान्तास्तनौ तयोः सङ्गेनापि भङ्गुरैः कुटिलैर्नखैरुरोविदारमुरो विदार्य । 'परिक्लिश्यमाने च' इति णमुल्प्रत्ययः। प्रतिचस्करे हतः । किरतेः कर्मणि लिट् । 'ऋच्छ्‌यतॄताम्' इति गुणः । 'हिंसायां प्रतेश्च' इति सुडागमः। वज्रकठिनोऽपि नखैर्विदारित इति वाङ्मनसयोरगोचर महिम्नस्ते किमसाध्यमिति भावः ।।४७।।

सारग्राहिणी—( १ ) नृसिंह !—हे नरसिंह—अवतार धारण करनेवाले श्रीकृष्ण ! पहले स्वभक्त प्रह्लाद को तथा सभी सदाचारियों को कष्ट देनेवाले हिरण्यकशिपु का वध करने के लिए भगवान् ने उसके ब्रह्मदत्त वर के अनुरूप 'न सिंहो न च मानुषम्' रूप धारण कर उसका वैशाखशुक्लचतुर्दशी को सायंकाल में वध किया। ( देखिये श्रीमद्भाग० स्कं० ७, अ० २ से १० तक )।

( २ ) अतनुम्—विशाल। 'तनुम्' का विशेषण है। तनु ( स्त्री० ) द्वि० ए० व०। न तनुः अतनुः, ताम् ( नञ् तत्पु० )।

( ३ ) सैंही तनुम्—सिंह-शरीर को। 'बिभ्रता' ( भरण-धारण ) क्रिया का कर्म है। सैंहीम्—'सिंहस्य इयम्' इस अर्थ में सिंह + अण् + ङीप्, द्वि० ए० व०। 'तनुम्' का विशेषण है।

( ४ ) बिभ्रता—धारण करनेवाले। 'त्वया' का विशेषण है। भृ + शतृ०, तृ० ए० व०।

( ५ ) सटाच्छटाभिन्नघनेन—अयाल समूह से मेघों को विदीर्ण करनेवाले। 'त्वया' का विशेषण है। सटा + छटा + भिन्न + घन। 'सटा' शब्द 'जटा' का पर्यायवाची है; और 'जटा' शब्द का प्रयोग सिर पर के बढ़े हुए

तथा कभी जिन्हें सँवारा न जाने के कारण जो लट के रूप में बन गये हैं ऐसे तपस्विकेशों के लिए होता है; तथापि सिंह के एवं घोड़े के गर्दन के केशों के लिए ( सिंह के मस्तक के भी केशों को मिलाकर ऊपरी केशों के लिए ) 'सटा' शब्द का प्रयोग होता है। छटा—समूह। भिन्न—√भिद् ( भिदिर्विदारणे ) + क्त।

( ६ ) त्वया—आपके द्वारा।

( ७ ) सः—वह; प्रकरण से हिरण्यकशिपु।

( ८ ) मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः—नये कामिनी के स्तनों के संसर्ग से भी वक्र होनेवाले, अर्थात् अत्यन्त कोमल। 'नखैः' का विशेषण है। मुग्ध + कान्ता + स्तन + सङ्ग + भङ्गुर। तृ० ब० व०।

( ९ ) नखैः—नखों द्वारा। नरसिंहावतार में भगवान् का कमर से ऊपर का भाग सिंह का होने से तदनुरूप नख विशाल थे, किन्तु स्वाभाविक रूप से अत्यन्त कोमल थे।

( १० ) उरोविदारम्—वक्षःस्थल विदीर्ण कर। 'उरः विदार्य' इस अर्थ में उरस् + वि + दृ + णिच् + णमुल्।

( ११ ) प्रतिचस्करे—मारा गया। प्रति + √कृ + लिट् ( आत्मने० ) कर्मवाच्य—प्र० पु० ए० व०।

व्याकरण—सटाच्छटाभिन्नघनेन—सटानां छटाभिः भिन्नाः घनाः येन सः तेन ( बहु० )। मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः—मुग्धौ यो कान्तायास्तनौ तयोः सङ्गेन भङ्गुराः तैः ( तत्पु० )। नृसिंह—ना सिंहः इव ( उपमित तत्पुरुष ); प्रकरण के अनुसार—ना चासौ सिंहश्च इति नृसिंहः तत्सम्बुद्धौ ( हे ) नृसिंह ( कर्मधारय )।

कोश—'सटा जटा' इत्यमरः, 'सटा जटाकेसरयोः', 'तनुः काये कृशेऽल्पे च' इति च विश्वः। 'घनजीमूतमुदिरजलमुग्धूमयोनयः', 'स्तनौ कुचौ', नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्'—इति च अमरः।

हिरण्यकशिपु ही द्वितीय जन्म में रावण हुआ, यह वर्णन करते हैं—
अथास्य जन्मान्तरचेष्टितान्याचष्टे—

विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो
रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः ।
स रावणो नाम निकामभीषणं
बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः ॥ ४८ ॥

अन्वय—अथ, सः, पुनः, त्रिदशैः, समं, रणेन, दर्पजन्मनः, कण्ड्वाः, विनोदं, इच्छन्, दिवः, क्षतरक्षणं, निकामभीषणं, रावणः, नाम, रक्षः, बभूव ॥ ४८ ॥

अनुवाद—इसके बाद वह हिरण्यकशिपु पुनः देवों के साथ युद्ध से दर्पजन्य खुजलाहट का विनाश करने की इच्छा करता हुआ, स्वर्ग के रक्षण को नष्ट करनेवाला अत्यन्त भयानक रावण नामक राक्षस हुआ ॥ ४८ ॥

सर्वङ्कषा—विनोदमिति ॥ अथ स हिरण्यकशिपुः पुनर्भूयोऽपि त्रिदशैः समं सह । 'साकं सार्धं समं सह' इत्यमरः । रणेन दर्पादन्तःसाराज्जन्म यस्यास्तस्याः कण्ड्वाः भुजकण्डूतेर्विनोदमपनोदमिच्छन् । प्राग्भवनखक्षतैस्तदपनादाभावादित्यर्थः । दिवः स्वर्गस्य क्षतं नष्टं रक्षणं रक्षा येन तत् । क्षतद्युरक्षणमित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः । अनेन देवसर्वस्वापहारित्वमुक्तम् । भीषयत इति भीषणम् । नन्द्यादित्वात् ल्युः । 'भियो हेतुभये पुक्' इति पुक् । निकामं भीषणम् । 'सुप्सुपा' इति समासः । रावणो नाम रावण इति प्रसिद्धं रक्षो बभूव । राक्षसयोनौ जात इत्यर्थः । विश्रवसोऽपत्यं पुमान् रावण इति विग्रहः । 'तस्यापत्यम्' इत्यणि कृते 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' इति प्रकृते रवणादेशः । पौराणिकास्तु रावयतीति व्युत्पादयन्ति । तदुक्तमुत्तरकाण्डे—

'यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम् ।
तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना वीरो भविष्यसि ॥'

इति रौतेर्ण्यन्तात्कर्तरि ल्युट् । रावणरक्षसोर्नियतलिंगत्वाद् विशेषणविशेष्यभावेऽपि स्वलिङ्गता ॥ ४८ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) अथ—इसके बाद । प्रकरण के अनुसार—हिरण्यकशिपु नामक देह को त्यागने के बाद ।

( २ ) सः—वह; हिरण्यकशिपु ( नामक देह में अवस्थित जीव ) ।

( ३ ) पुनः—फिर से । अव्यय है ।

( ४ ) त्रिदशैः समम्—देवों के साथ सहार्थक शब्द 'समम्' के योग में तृतीया हुई है । 'त्रिदश' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए श्लोक ४६ की व्याख्या देखिए । अथवा 'तृतीया दशा येषां ते' अथवा त्रिर्दश परिमाणमेषामिति त्रिदशाः ।'

( ५ ) रणेन दर्पजन्मनः—युद्ध के अभिमान से उत्पन्न । अर्थात् युद्ध करने के कारण होनेवाला जो अभिमान उससे उत्पन्न । 'कण्ड्वाः' का विशेषण है । 'रणेन' में 'कारण' में तृतीया हुई है । दर्प+जन्मन् । दर्प = √दृप् + घञ् ( भावे ) ।

( ६ ) कण्ड्वाः—खुजलाहट के । कण्डू + यक् ( स्वार्थे ) + क्विप् ( भावे ) = कण्डूय ( सनाद्यन्त धातु ) + क्विप् 'अतोलोपः', 'लोपो व्योर्वलि' = कण्डू (स्त्रीलिंग), ष० ए० व० । 'सन्क्यच् काम्यच् क्यङ् क्यषोऽथाचारक्विब्णिज्यङौ तथा । यगाय ईयङ्, णिङ् चेति द्वादशामी सनादयः ॥' कण्डू + क्विप्, 'सनाद्यन्ताधातवः' से धातुसंज्ञा एवं क्विप् तथा क्विप् का सर्वापहारी लोप ।

( ७ ) विनोदम् इच्छन्—विनाश चाहता हुआ । 'सः' का विशेषण है । विनोद—वि + √नुद + घञ् ( भावे ) । इच्छन्—√इष + शतृ ( हेतौ ) 'राक्षस होने में' वह हेतु है ।

( ८ ) दिव क्षतरक्षणम्—स्वर्ग की रक्षा को नष्ट करनेवाला । दिवः—ष० ए० व० । क्षतरक्षणम्—क्षतं रक्षणं येन तत् ( बहु० ) 'रक्षः' का विशेषण है । रक्षण = रक्षा ।

( ९ ) निकामभीषणम्—अत्यन्त भयानक । निकामं—पर्याप्त रूप से, भीषण—भय उत्पन्न करनेवाला । भीषणम्—'भीषयते' इस अर्थ में √भी + णिच् + ल्यु ( कर्तरि ) 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः'—भीषण—नपुं० प्र० पु० ए० व० ।

( १० ) रावणो नाम—'रावण' नामवाला। रावण—'विश्रवस्' की सन्तान इस अर्थ में 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' से प्रकृत में रवण + अण् ( तस्यापत्यम् )।

( ११ ) रक्षः—राक्षस। 'रावणः' रक्षः का विशेषण है, किन्तु रावण शब्द नित्य पुं० तथा 'रक्षस्' शब्द नित्य नपुं० होने से लिङ्गभेद दीख रहा है।

( १२ ) बभूव—हुआ। 'सः' इसका कर्ता है। भू + लिट्; प्र० पु० ए० व०।

अब १८ श्लोकों से रावण के औद्धत्य का वर्णन है; यहाँ उसके तपःशौर्य का वर्णन करते हैं—

अथास्यौद्धत्यमष्टादशश्लोक्याऽऽचष्टे—

प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः
शिरोऽतिरागाद्दशमं चिकर्तिषुः।
अतर्कयद् विघ्नमिवेष्टसाहसः
प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः ॥४९॥

अन्वय—यः, भुवनत्रयस्य, प्रभुः, बुभूषुः, अतिरागात्, दशमं, शिरः, चिकर्तिषुः, इष्टसाहसः, इच्छासदृशं, पिनाकिनः, प्रसादं, विघ्नं, इव, अतर्कयत् ॥४९॥

अनुवाद—तीनों लोकों का स्वामी होने की इच्छा करते हुए, ( शिव-विषयक ) अत्यन्त अनुराग से अपने दशम मस्तक को काटने की इच्छा करते हुए तथा प्रिय साहसवाले जिस ( रावण ) ने इच्छारूप शिव के वर को विघ्न-सा माना ॥४९॥

सर्वङ्कषा—प्रभुरिति ॥ यो रावणः भुवनत्रयस्य प्रभुः स्वामी बुभूषुर्भवितु-मिच्छुः। भुवः सन्नन्तादुप्रत्ययः। अतिरागादुत्साहात्, न तु फलविलम्बननिर्वेदा-दिति भावः। दशमं शिरः चिकर्तिषुः कर्त्तितुं छेत्तुमिच्छुः। 'कृती छेदने' इति धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः। इष्टसाहसः प्रियसाहसः अतएवेच्छासदृशमिच्छानुरूपं पिनाकिनः प्रसादं वरं विघ्नमिवातर्कयदुत्प्रेक्षितवानिति परमसाहसित्वोक्तिः। इत आरभ्य श्लोक षट्केऽपि यच्छब्दस्य स रावणो नाम रक्षो बभूवेति पूर्वेणान्वयः।

रङ्गराजस्तु 'न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम्' 'इति उपरिष्टादन्वय इत्याह। तदसत्। 'गुणानां च परार्थत्वात्' इति न्यायादारुण्यादिवत् प्रत्येकं प्रत्येकं प्रधानान्वयिनां मिथः सम्बन्धायोगादित्यलं शाखाचङ्क्रमणेन। पुरा किल रावणः काम्ये कर्मणि पशुपतिप्रीणनाय नव शिरांस्यग्नौ हुत्वा दशमारम्भे सन्तुष्टात् तस्मात् त्रैलोक्याधिपत्यं वव्रे इति पौराणिकी कथात्रानुसन्धेया ॥ ४९ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) भुवनत्रयस्य—तीनों लोकों का। भुवनानां त्रयं भुवनत्रयं तस्य ( तत्पु० )।

( २ ) प्रभुः—स्वामी। प्रभवतीति प्रभुः—प्र + √भू + डु।

( ३ ) बुभूषुः—होने की इच्छा करता हुआ। √भू + सन् + उ ( कर्तरि )।

( ४ ) अतिरागात्—शिवविषयक अत्यधिक अनुराग से हेतु में पंचमी। ( कर्तरि )।

( ५ ) दशमं शिरः—दशवाँ मस्तक। ( इष्ट ) कर्तनक्रिया का कर्म। 'दशानां पूरणम्' इस अर्थ में दशन् + डट् ( + मटडट् ) = दशम। तत् = दशमम्; नपुं० द्वि० ए० व०।

( ६ ) चिकर्तिषुः—काटने की इच्छा करता हुआ। √कृत् ( कृतीछेदने ) + सन् + उ। 'यः' का विशेषण है।

( ७ ) इष्टसाहसः—अभीष्ट ( प्रिय ) साहसवाले। इष्टं साहसं यस्य ( यस्मै ) सः। इष्ट + इष् + क्त ( कर्मणि )। साहसम् = 'सहसा कृतम् अथवा सहसि भवम् अथवा सहसः इदम्' इस अर्थ में सहस् + अण्।

( ८ ) यः – जिसने। अर्थात् जिस रावण ने।

( ९ ) इच्छासदृशम्—इच्छा के अनुरूप। इच्छा = √इष् + श (भावे)। 'समान इव पश्यति' इस अर्थ में समान + √दृश् + कञ् = सदृश। समानान्ययोश्च' से 'कञ्' तथा 'दृग्दृशवतुषु' से समान की जगह 'स' आदेश। इच्छया सदृशम् सच्छासदृशम्; 'प्रसादम्' का विशेषण है।

( १० ) पिनाकिनः—शिवजी के। 'पिनाकः अस्य अस्ति' इस अर्थ में पिनाक + इनि = पिनाकिन्, ष० ए० व०।

( ११ ) प्रसादम्—वर को, कृपा को। प्र + सद् + घञ्।

( १२ ) विघ्नम् इव—विघ्न के समान। मानो विघ्न।

( १३ ) अतर्कयत्—माना, समझा। तर्क + लङ्, प्र० पु० ए० व०।

कोश—'विष्टपं भुवनं जगत्', शिरः शीर्षं मर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्', 'पिनाकी प्रमथाधिपः'—इति च अमरः।

अब रावण द्वारा कैलास पर्वत के उच्चालन के प्रसंग का वर्णन किया जा रहा है—

अथ कैलासोत्क्षेपणवृत्तान्तमाह—

समुत्क्षिपन् यः पृथिवीभृतां वरं
वरप्रदानस्य चकार शूलिनः।
त्रसत्तुषाराद्रिसुतासंसम्भ्रम-
स्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम् ॥५०॥

अन्वय—यः, पृथिवीभृतां, वरं, समुत्क्षिपन्, शूलिनः, वरप्रदानस्य, त्रसत्तुषाराद्रिसुतासंसम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन, निष्क्रयं, चकार ॥५०॥

अनुवाद—सब पर्वतों में श्रेष्ठ ( कैलास ) पर्वत को ऊपर उठाते हुए जिस रावण ने डरी हुई गिरिजा के द्वारा घबराकर स्वयं किये गये आलिंगन से उत्पन्न सुख से शिव के वरदान का बदला चुकाया ॥५०॥

सर्वङ्कषा—समुत्क्षिपन्निति ॥ यो रावणः पृथिवीभृतां पर्वतानां वरं श्रेष्ठं कैलासं समुत्क्षिपन्। दर्पादिति शेषः। शूलिनो वरप्रदानस्य पूर्वोक्तस्य। त्रसन्त्याः शैलचलनेन बिभ्यत्यास्तुषाराद्रिसुतायाः पार्वत्याः ससम्भ्रमो यः स्वयङ्ग्रहः प्रियप्रार्थनां विना कण्ठग्रहणम्। 'सुप्सुपा०' इति समासः। तेन आश्लेष सम्मेलनं तेन यत्सुखं तेन। त्रैलोक्याधिपत्यसुखादुत्कृष्टेनेति भावः निष्क्रयं। प्रत्युपकारनिर्गतिं चकार। 'निष्क्रयो वृद्धियोगे स्यात्सामर्थ्ये निर्गतावपि' इति वजयन्ती। यद्वा निष्क्रयं चकार क्रयेण व्यवहारेण याञ्चादोषदैन्यं ममार्जेत्यर्थः। अत्र सुखवरदानयोर्विनिमयात्परिवृत्तिरलंकारः ॥५०॥

सारग्राहिणी—( १ ) पृथिवीभृतां वरम्—पर्वतों में श्रेष्ठ; अर्थात् कैलास पर्वत को। कैलास हिमालय पर्वत का एक शिखर है, तथापि उसकी विशालता के कारण उसे पृथक् पर्वत के रूप में बतलाया गया है। पहले रावण ने उक्त पर्वत को अपने गर्वाधिक्य के कारण बलप्रदर्शनार्थ उठाया था। पृथिवीभृत्—'पृथिवीं बिभर्ति' इस अर्थ में पृथिवी + √भृ + क्विप् ( कर्तरि ) ष० ब० व०। यहाँ 'यतश्च निर्धारणम्' से निर्धारण में षष्ठी हुई है।

( २ ) समुत्क्षिपन् यः—उछालते हुए। [ ऊपर उठाते हुए जिस ( रावण ) ने ]। समुत्क्षिपन्—सम् + उत् + √क्षिप् + शतृ ( कर्तरि )। प्र० ए० व०। यः 'चकार' का कर्त्ता है। 'समुत्क्षिपन्' यः का विशेषण है।

( ३ ) शूलिनः—शिवजी के। शूलः अस्य अस्तीति शूलिन्—शूल+इनिः, ष० ए० व०। इसका सम्बन्ध 'वरप्रदानस्य' से है।

( ४ ) वरप्रदानस्य—वरदान का। इसका सम्बन्धी शब्द 'निष्क्रयस्य' है। वरस्य प्रदानं तस्य ( तत्पु० )। वर√वृ + अप् ( कर्मणि )।

( ५ ) त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन—डरती हुई गिरिजा द्वारा स्वयं कृत आलिङ्गन-जन्य सुख से। करणे तृतीया। त्रसत् + तुषाराद्रि + सुता + ससम्भ्रम + स्वयंग्रह = आश्लेष + सुख। त्रसत्—√त्रस् + शतृ। तुषाराद्रि—तुषार का पर्वत = हिमाचल। उसकी सुता = पार्वती। स्वयंग्रहाश्लेष—विना प्रियकृतप्रार्थना के स्वयं ही कर लिया गया आलिंगन।

( ६ ) निष्क्रयम् चकार—बदला चुकाया। निष्क्रय—निस् अथवा निर् + क्री + अच् ( भावे )। चकार— + कृ + लिट्, प्र० पु० ए० व०।

व्याकरण—त्रसत्तुषाराद्रिसुताससम्भ्रमस्वयंग्रहाश्लेपसुखेन—'त्रसन्त्याः तुषाराद्रेः सुतायाः यः ससम्भ्रमः यः स्वयं ग्रहः तेन आश्लेषः तेन यत्सुखं तेन' अथवा-तुषारस्य अद्रिः तुषाराद्रिः तुषाराद्रेः सुता तुषाराद्रिसुता, त्रसन्ती चासौ तुषाराद्रिसुता च इति त्रसत्तुषाराद्रिसुता तस्याः ससम्भ्रमेण यः स्वयंग्रहः तेन यः आश्लेषः तेन यत्सुखं तेन ( दोनों प्रकारों में तत्पु० )।

कोश—'गोत्राकुः पृथिवी पृथ्वी', 'महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः', 'शिवः शूली महेश्वरः'—इति च अमरः। निष्क्रयो वृद्धियोगे स्यात् सामर्थ्य निर्गतावपि' इति वैजयन्ती।

अलङ्कार—यहाँ 'परिवृत्ति' नामक अलंकार है; क्योंकि रावण द्वारा वरप्रदान का शिव के लिए गिरिजाकृत आलिंगन् के रूप में निष्क्रिय दिया गया है। परिवृत्ति का लक्षण है—'परिवृत्तिविनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः' ( चन्द्रालोक )।

रावण द्वारा स्वर्ग का लुण्ठन करने का वर्णन महर्षि नारद कर रहे हैं—

पुरोमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं
मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली
य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ॥ ५१ ॥

अन्वय—यः, वली, नमुचिद्विषा, विगृह्य, पुरीं, अवस्कन्द, नन्दनं, लुनीहि, रत्नानि, मुषाण, अमराङ्गनाः, हर, इत्थं, अहर्दिवं, दिवः, अस्वास्थ्यं, चक्रे ॥५१॥

अनुवाद—बलवान् जिस रावण ने इन्द्र के साथ विरोध करके 'अमरावती नगरी को घेर लिया, नन्दनवन को काटा, रत्नों को लूटा, देवस्त्रियों का अपहरण किया'; इस प्रकार प्रतिदिन स्वर्ग में उपद्रव किया ॥ ५१ ॥

सर्वङ्कषा—पुरीमिति ॥ यो बली बलवान् रावणो नमुचिद्विषा इन्द्रेण विगृह्य विरुद्धय पुरीममरावतीमवस्कन्दावरुरोध। नन्दनमिन्द्रवनम् 'नन्दनं वनम्' इत्यमरः। लुनीहि चिच्छेद। 'ईहल्यघोः' इतीकारः। रत्नानि श्रेष्ठवस्तूनि, मणीन् वा। 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः। मुषाण मुमोष। मुष् स्तेये, 'हलः श्नः शानज्झौ' इति श्नः शानजादेशः। अमराङ्गनाः हर जहार। सर्वत्र पौनःपुन्येनेत्यर्थः। इत्थमनेन प्रकारेण अहनि च दिवा चाहर्दिवम्। अहन्यहनीत्यर्थः। 'अचतुर०' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्तौ द्वन्द्वे समासान्तो निपातः। दिवः स्वर्गस्यास्वास्थ्यमुपद्रवं चक्रे। अत्रावस्कन्देत्यादौ 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' इत्यनुवृत्तौ 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पेन कालसामान्ये लट्। तस्य यथोपग्रहं सर्वतिङादेशो हिस्वौ च। प्रकरणादिना त्वर्थविशेषावसानम्। 'अतो हेः' इति यथायोग्यं हिलुक्। पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः। अवस्कन्दनादिक्रियाविशेषाणां समुच्चयः क्रियासमभिहारः।

तत्सामान्यस्य करोतेः 'समुच्चये सामान्यवचनस्य' इत्यनुप्रयोगः चक्रे इति। अत्र तिङ्वैचित्र्यात्सौशब्दाख्यो गुणः। 'सुपां तिङां परावृत्तिः सौशब्दम्' इति लक्षणात्। समुच्चयालङ्कारः ॥ ५१ ॥

**सारग्राहिणी**—( १ ) बली यः—बलवान् जिसने। 'चक्रे' का कर्त्ता। बलमस्यास्तीति बली।

( २ ) नमुचिद्विषा—इन्द्र के साथ। यहाँ सहार्थे तृतीया हुई है। नमुञ्चति इति नञ् + √मुच् + इन् ( औणादिक कर्तरि ) = नमुचिः तं द्विष्टवान् इति नमुचि + द्विष् + क्विप् ( कर्तरि ) = नमुचिद्विट्, तृ० ए० व०।

( ३ ) विगृह्य—द्वेष करके, विरोध करके। वि + √ग्रह् + ल्यप्।

( ४ ) पुरीम् अवस्कन्द—अमरावती नगरी को घेरा। यहाँ तथा इस पद्य के अन्य वाक्यों में कालसामान्य के अर्थ में 'लोट्' हुआ है और यहाँ प्रकरण के अनुसार इसका लिट् लकार ( भूतकाल ) के रूप में अर्थ लिया गया है।

अव + √स्कन्द् + लोट्, म० पु० ए० व० = अवस्कन्द।

( ५ ) नन्दनं लुनीहि—नन्दनवन को काटा। इन्द्र के नगर को अमरावती तथा बगीचे को नन्दन कहते हैं। लुनीहि—लूञ् + लोट्, म० पु० ए० व०।

( ६ ) रत्नानि मुषाण—रत्नों को लूटा। मुषाण—मुष् + लोट्, म० पु० ए० व०।

( ७ ) अमराङ्गनाः हर—देवस्त्रियों का अपहरण किया। अमर + अङ्गनाः; न मराः अमराः, अमराणाम् अङ्गनाः अमराङ्गनाः ( ताः ) द्वि० ब० व०। हर—हृञ् + लोट्, म० पु० ए० व०।

( ८ ) इत्थम्—इस प्रकार। 'अव्यय' है।

( ९ ) अहर्दिवम्—प्रतिदिन। अहनि च दिवा च अहर्दिवा + अच् ( समासान्त )—द्वन्द्वसमास। यहाँ 'दिवा' अव्यय है। 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' तथा 'सामान्ये नपुंसकम्' इस नियमद्वय से 'अहन्' को नपुंसक लिंग तथा दिवा को अच् होने से दिव होने से अहर्दिवम् रूप बनता है।

( १० ) दिवः—स्वर्ग का । पं० ए० व० । भाषा के अनुसार 'स्वर्ग में ।'

( ११ ) अस्वास्थ्यम्—उपद्रव । 'चक्रे' का कर्म है । स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः, न स्वस्थः अस्वस्थः, तस्य भावः = अस्वास्थ्यम् ( ष्यञ् ) ।

( १२ ) चक्रे—किया । √कृ + लिट्, प्र० पु० ए० व० ।

कोश—'पूः स्त्री पुरी नगर्यौ वा', 'नन्दनं वनम्' 'अमरा निर्जरा देवाः', 'द्यौ दिवौ द्वे स्त्रियाम्'—इति च अमरः ।

रावण के साथ युद्ध में इन्द्र के भागने का वर्णन नारदमुनि करते हैं—

सलोलयातानि न भर्तुरभ्रमो-
र्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम् ।
अनुद्रुतः संयति येन केवलं
बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम् ॥५२॥

अन्वय – संयति, येन, अनुद्रुतः, वलस्य, शत्रुः, अभ्रमोः, भर्तुः, सलील-यातानि, न ( प्रशशंस ), उच्चैःश्रवसः, चित्रं, पदक्रमं न ( प्रशशंस ) केवलं, शीघ्रतां, प्रशशंस ॥५२॥

अनुवाद—जिस ( रावण ) के द्वारा युद्ध में खदेड़े गये इन्द्र ने ऐरावत हाथी की विलासयुक्त गति की प्रशंसा नहीं की, उच्चैःश्रवा घोड़े के विविध पादप्रक्षेप की भी प्रशंसा नहीं की, ( अपितु ) दोनों की शीघ्रता की मात्र प्रशंसा की ॥५२॥

सर्वङ्कषा—सलीलेति ॥ संयति युद्धे । 'समुदायः स्त्रियां संयत्समित्याजि-समिद्युधः' इत्यमरः । येन रावणेन अनुद्रुतोऽनुधावितः वलस्य शत्रुरिन्द्रः अभ्रमो-र्भर्तुरैरावतस्य सलीलयातानि सभङ्गीकगमनानि न प्रशशंस । तथा उच्चैःश्रवसः स्वाश्वस्य चित्रं नानाविधं पदक्रमं पादविक्षेपम् । अर्धपुलायितादिगतिविशेषमित्यर्थः । न प्रशशंस । किन्तु केवलं शीघ्रतां शीघ्रगामित्वमेव प्रशशंस । अन्यथा शीघ्रं मामास्कन्द्य ग्रहीष्यतीति भयादिति भावः ॥५२॥



सारग्राहिणी—( १ ) संयति—युद्ध में । संयत् शब्द का स० ए० व० ।

( २ ) येन—जिस रावण द्वारा ।

( ३ ) अनुद्रुतः—पीछा किये गये । 'वलस्य शत्रुः' का विशेषण है । अनु + √द्रु + क्त ( कर्मणि ) ।

( ४ ) वलस्य शत्रुः—इन्द्र ने । 'वल' नामक राक्षस का वध करने के कारण 'इन्द्र' को वलस्य शत्रुः = 'वलारिः' कहते हैं ।

( ५ ) अभ्रमोः भर्तुः—ऐरावत हाथी की । ऐरावत हाथी 'मादा' का नाम 'अभ्रमु' है; अतः 'ऐरावत' को 'अभ्रमुभर्ता' कहा जाता है । ष० ए० व० ।

( ६ ) सलीलयातानि—विलासयुक्त गति की ( प्रशंसा नहीं की ) । लीलया सहितानि सलीलानि, सलीलानि च तानि यातानि चेति सलीलयातानि । यहाँ भाषा में गति ए०व० प्रयुक्त है तथा श्लोक में 'यातानि' बहुवचन प्रयुक्त है; इसका कारण भाषा का अपना प्रवाह है ।

( ७ ) न प्रशशंस—प्रशंसा नहीं की । प्र + √शस + लिट्, प्र० पु० ए० व० ।

( ८ ) उच्चैःश्रवसः—उच्चैश्रवा नामक घोड़े के । यह घोड़ा तथा ऐरावत हाथी समुद्रमन्थन के समय समुद्र में से निकले थे । ये उसी समय से ( बलि-पराजय के बाद ) इन्द्र के पास हैं । उन्नत कर्णोंवाला होने से तथा ख्यातकीर्ति होने से इसे 'उच्चैःश्रवस्' कहा जाता है । ष० ए० व० ।

( ९ ) चित्रं पदक्रमम् न—विविध प्रकार के पादप्रक्षेप की ( प्रशंसा नहीं की ) । पदक्रम—√पद + घञ् ( भावे = ) पदम्, पदानां क्रमः पदक्रमः तं पदक्रमम् । प्रशंसन-क्रिया का कर्म है ।

( १० ) केवलं शीघ्रतामेव—शीघ्रता मात्र की ही । शीघ्रस्य भावः शीघ्रता ताम् । यहाँ एवकार 'अन्ययोग के व्यावर्तक के रूप में' प्रयुक्त हुआ है । प्रशशंस । यद्यपि इस 'प्रशंसन' क्रिया को इस वाक्य में पुनः नहीं कहा गया है । तथापि पूर्व वाक्य में प्रयुक्त उसका यहाँ आक्षेप कर लिया जाता है ।

कोश—'समदामः स्त्रियः संयत्समित्याजिसमिद्युधः' 'बलारातिः शचीपतिः', 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः'—इति च अमरः ।

रावण से डरे इन्द्र का सुमेरुगुहा में समययापन का 'कौशिक' शब्द के श्लेष से नारदमुनि वर्णन करते हैं—

अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः
सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं
निनाय बिभ्यद् दिवसानि कौशिकः ॥५३॥

अन्वय—अधीरलोचनः, कौशिकः, सहस्ररश्मेः, इव, यस्य, दर्शनं, सोढुं, अशक्नुवन्, हेमाद्रिगुहागृहान्तरम्, प्रविश्य, बिभ्यत्, दिवसानि, निनाय ॥५३॥

अनुवाद—सूर्य के समान तेजस्वी जिस रावण के दर्शन को सहन करने में असमर्थ होनेवाले अतएव चञ्चल नेत्रोंवाले इन्द्र ने ( पक्षान्तर में—उल्लू ने ) सुमेरु पर्वत के गुफारूपी गृहान्तर में प्रवेश करके डरते हुए दिनों को बिताया ॥५३॥

सर्वङ्कषा—अशक्नुवन्निति ॥ अधीरलोचनोऽस्थिरदृष्टिः कौशिको महेन्द्रः उलूकश्च । 'महेन्द्र गुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः । सहस्ररश्मेः सूर्यस्येव यस्य रावणस्य विक्रमकर्मणो दर्शनं सोढुमशक्नुवन् हेमाद्रेर्गुहैव गृहं तस्यान्तरं प्रविश्य बिभ्यत् तत्रापि वेपमान एव । बिभेतेः शतरि 'नाभ्यस्ताच्छतुः', इति नुमभावः । दिवसानि वासराणि निनाय । 'वा तु क्लीबे दिवसवासरौ' इत्यमरः । यथा पेचकः सूर्योदये भीतः सन् तिष्ठति तथा सोऽपीति भावः । कौशिकः इत्यभिधायाः प्रस्तुतैकगोचरत्वेनोभयश्लेषेऽपि विशेष्यश्लेषासम्भवादुलूकविषयशब्दशक्तिमूलो ध्वनिः । सहस्ररश्मेरिवेत्युपमाननिर्वाहकत्वाद्वाच्यसिद्ध्यङ्गम् ॥५३॥

सारग्राहिणी—( १ ) सहस्ररश्मेः इव—सूर्य के समान । सहस्रं रश्मयः यस्य सः तस्य = सहस्ररश्मेः ( बहु० ) । प० ए० व० । उपमा अलंकार है । तथा 'यत्' शब्द से संकेतिक रावण उपमेय है ।

( २ ) यस्य—जिस रावण के ।

( ३ ) दर्शनम्—दर्शन को ।

(४) सोढुम् अशक्नुवन्—सहन करने में असमर्थ होते हुए। सोढुम्—√सह + तुमुन्। अशक्नुवन्—√शक् + शतृ (कर्तरि); न शक्नुवन् अशक्नुवन् (नञ् तत्पु०) 'कौशिकः' का विशेषण है।

(५) अधीरलोचनः—चञ्चल नेत्रोंवाले। 'कौशिकः' का विशेषण है। अधीराणि (न धीराणि अधीराणि) नेत्राणि यस्य सः (बहु०)।

(६) कौशिकः—इन्द्र ने। पक्षान्तर में—उल्लू ने। उल्लू भी सूर्य के दर्शन को सहन करने में असमर्थ होता है।

(७) हेमाद्रिगुहागृहांतरम्—सुमेरु पर्वत के गुफारूपी गृह के अन्दर। हेमाद्रि + गुहा + गृह + अन्तरम्। यहाँ गुहारूपी गृह ऐसा रूपक समास अथवा 'गुहा गृहमिव' ऐसा उपमित समास मानना चाहिए। मल्लिनाथ के अनुसार 'गुहैव गृहम्' रूपक है। S. R. Ray 'गुहासदृशं गृहम्' उपमा मानते हैं। स्मरणीय है कि S. R. Ray का मत स्वयं में अस्थिर है; वे दोनों प्रकार के समास मानते हैं। अतः उपयुक्त होने के कारण मल्लिनाथसम्मत 'रूपक' मानना ही उचित है।

(८) प्रविश्य—प्रवेश करके। प्र + √विश् + ल्यप्।

(९) बिभ्यत्—डरते हुए। 'कौशिकः' का विशेषण है। √भी + शतृ।

(१०) दिवसानि—दिनों को। 'निनाय' क्रिया का कर्म है। इसका कर्ता 'कौशिकः' है। 'दिवस' शब्द का नपुं० द्वि० ब० व०।

(११) निनाय—व्यतीत किया। √नी + लिट्, प्र० पु० ए० व०।

**व्याकरण**—हेमाद्रिगुहागृहान्तरम्—हेममयः अद्रिः हेमाद्रिः, हेमाद्रेः गुहैव गृहम्, तस्य अन्तरम् (तत्पु०)।

**कोश**—'लोचनं नयनं नेत्रम्', 'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः', 'क्लीबे दिवसवासरौ'—इति च अमरः।

**अलंकार**—यहाँ कौशिक शब्द श्लिष्ट है। कौशिक = इन्द्र, उल्लू। उल्लू के समान इन्द्र ने, सूर्य के समान रावण के भय से सुमेरु पर्वत के गुफारूपी घर में समय बिताया, इसमें प्रविष्ट व्यङ्ग्य रावण से इन्द्र का अति भीत होना,

उसका उलूक सदृश होना, 'वाच्यसिद्धयङ्ग' नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य हो रहा है। यद्यपि यहाँ इन्द्र उलूक साम्य 'कौशिक' शब्द में निष्ठ शक्ति ( शब्दशक्ति० ) से सहकृत व्यञ्जना के द्वारा व्यक्त हो रहा है; अतः, यहाँ शब्दशक्तिमूलक ध्वनि भी है। किन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि यह ध्वनि वाच्य अर्थ को पुष्ट करने में ही व्यग्र हो रही है; अतः, यहाँ 'वाच्यसिद्धयङ्ग' है।

विष्णुचक्र भी रावण के कण्ठच्छेद में कुण्ठित हुआ, यह वर्णन करते हैं—

बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्
विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं
न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम् ॥ ५४ ॥

अन्वय—बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं, अप्रसहिष्णु, वैष्णवं, चक्रं, जगत्प्रभोः, अस्य, सुरद्विषः, अधिकन्धरं, न, अक्रमत ॥ ५४ ॥

अनुवाद—बड़ी शिला के समान कठोर ( जिसके ) कण्ठ से घर्षण होने के कारण बिखरी हुई चञ्चल अग्निकणिकाओंवाला असहनशील वैष्णवचक्र ( भी ) जगत् के स्वामी देवद्वेषी इस ( रावण ) के कण्ठ में ( कण्ठच्छेद में ) प्रवृत्त नहीं हुआ ॥ ५४ ॥

सर्वङ्कषा—बृहच्छिलेति ॥ बृहती शिलेव निष्ठुरे कण्ठे घट्टनादभिघाताद् विकीर्णा विक्षिप्ताः लोलाश्चाग्निकणाः स्फुलिङ्गा यस्य तत् अत एवाप्रसहिष्णु अनभिभावकम्। प्रसहनमभिभव इति वृत्तिकारः। 'अलंकृञ्०' इत्यादिना इष्णुच्। वैष्णवं चक्रं सुदर्शनं जगत्प्रभोः सकललोकैकस्वामिनः अस्य सुरद्विषो रावणस्य कन्धरायामधि अधिकन्धरमधिग्रीवम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'अव्ययीभावश्च' इति नपुंसकत्वात् 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम्। 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः। नाक्रमताप्रतिहतं न क्रमते स्म न प्रवर्तते स्म। किन्तु प्रतिहतमेवेत्यर्थः 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' इति वृत्तावात्मनेपदम्। वृत्तिरप्रतिबन्धः ॥ ५४ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात्—बड़ी शिला के समान कठोर कण्ठ से घर्षण होने के कारण। यहाँ हेतु में पञ्चमी हुई है। बृहत्+शिला+निष्ठुर+कण्ठ+घट्टन। यहाँ उपमित समास होने से 'उपमा' अलंकार है।

( २ ) विकीर्णलोलाग्निकणम्—बिखरी हुई अग्निकणिकाओंवाला। 'चक्रम्' का विशेषण है। विकीर्ण+लोल+अग्निकण।

विकीर्ण—वि+√कॄ किरणे+क्त ( कर्मणि )।

( ३ ) अप्रसहिष्णु—असहनशील। 'चक्रम्' का विशेषण है। प्रसहिष्णु—प्र+√सह्+इष्णुच्; न प्रसहिष्णु—अप्रसहिष्णु ( नञ् तत्पु० )

( ४ ) वैष्णव चक्रम्—विष्णु का सुदर्शन नामक चक्र। वैष्णवम्—'विष्णु का यह' इस अर्थ में विष्णु+अण्; आदिवृद्धि।

( ५ )—जगत्प्रभोः—संसार के स्वामी। जगतः प्रभुः जगत्प्रभुः तस्य ( तत्पु० )। अस्य ( सुरद्विषः ) का विशेषण है।

( ६ ) सुरद्विषः अस्य—देवों से द्वेष करनेवाले इस रावण के। 'सुरान् द्वेष्टि' इस अर्थ में सुर+द्विष्+क्विप् ( सर्वापहारी लोप ) प० ए० व०।

( ७ ) अधिकन्धरम्—कण्ठ में। अर्थात् कण्ठच्छेद करने में। 'कन्धरायाम्' इस अर्थ में अधिकन्धरम् ( अव्ययीभाव समास )।

( ८ ) न अक्रमत—प्रवृत्त नहीं हुआ। √क्रम्+लुङ्, प्र० पु० ए० व०।

व्याकरण—बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात्—बृहती चासौ शिला च बृहच्छिला सा इव निष्ठुरः; स चासौ कण्ठश्च इति बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठः तेन घट्टनं तस्मात् ( कर्म० तत्पु० )। यहाँ मल्लिनाथ 'बृहति शिलेव निष्ठुरे' ऐसा विग्रह करते हैं। कुछ आधुनिक टीकाकार 'तत्र घट्टनं' ऐसा विग्रह करते हैं, परन्तु उपयुक्त होने के कारण तथा प्राचीन टीकाकारों द्वारा आदृत होने के कारण 'तेन घट्टनं' विग्रह ही ठीक है।

कोश—'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायाम्', 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निः', 'चक्रं सुदर्शनम्' इति च अमरः।

अब रावण द्वारा कुबेर के कम्पन का वर्णन करते हैं—

विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन्मुहु-
मंदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः ।
निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं
प्रकम्पयामास न मानसं न सः ॥ ५५ ॥

अन्वय—सः, मदेन, दन्ती, इव, विभिन्नशङ्खः, कलुषीभवत्, निरस्त-गाम्भीर्य, अपास्तपुष्पकं, मनुष्यधर्मणः, मानसं, मुहुः, न, प्रकम्पयामास, (इति) न ॥ ५५ ॥

अनुवाद—जिस प्रकार मद से (पूर्ण) हाथी शंख को नष्ट कर (मदजल से) कलुषित होनेवाले, नष्ट की हुई गम्भीरतावाले तथा हटाये हुए पुष्पोंवाले सरोवर को क्षुब्ध करता है, उस प्रकार उसने शंखनिधि को नष्ट कर, मलिन होनेवाले, नष्ट की हुई गम्भीरतावाले तथा हटाये हुए पुष्पक विमानवाले कुबेर के 'मानस' नामक सरोवर को तथा चित्त को बार-बार क्षुब्ध किया ॥ ५५ ॥

सर्वङ्कषा—विभिन्नेति ॥ स रावणो मदेन दर्पेण इभदानेन च । 'मदो दर्पेभदानयोः' इति विश्वः । दन्तीव गज इव विभिन्नो विघट्टितः शङ्खो निधिभेदः कम्बुश्च येन सः सन् 'शङ्खो निध्यन्तरे कम्बुललाटास्थिनखेपु च' इति विश्वः । अकलुपं कलुपं क्षुब्धमाविलं च भवत् कलुषीभवत् । निरस्तं गाम्भीर्यमविकारित्व-मगाधत्वं च यस्य यत् । अपास्तानि पुष्पाणि पुष्पकं विमानं च यस्मात् तत् । पुष्पपक्षे वैभाषिकः कप् प्रत्ययः । मनुष्यस्येव धर्मः श्मश्रुलत्वादिर्यस्येति स्वामी । तस्य मनुष्यधर्मणः । 'धर्मादनिच् केवलात्' इत्यनिच् । मानसं चित्तं तदीयं सरश्च । 'मानसं सरसि स्वान्ते' इति विश्वः । मुहुर्न कम्पयामास न क्षोभयामासेति न । किन्तु कम्पयामासैवेत्यर्थः । कुबेरस्य महामहिमतया सम्भाविताप्रकम्पित्व-निवारणाय नञ्द्वयम् । 'सम्भाव्यनिषेध नञ्द्वयम्' इति वामनः । अत्र दन्ति-रावणयोः प्रकृताप्रकृतयोः श्लेषः ॥ ५५ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) सः—उस रावण ने। 'प्रकम्पन' क्रिया का कर्त्ता।

( २ ) मदेन—गर्व से; पक्षान्तर में मदजल से। यहाँ हेतु में तृतीया हुई है।

( ३ ) दन्ती इव—हाथी के समान। इस पद्य में हाथी के साथ श्लिष्ट विशेषणों से रावण का साम्य बतलाया गया है। मदपूर्ण हाथी का तथा रावण का व्यवहार समान हुआ। यहाँ 'श्लिष्टोपमा' अलंकार है।

( ४ ) विभिन्नशङ्खः—शंख नामक निधि को नष्ट कर। नष्ट किया गया है शङ्खनिधि जिसके द्वारा वह ( बहु० )।

विभिन्न—वि + √भिद् + क्त ( कर्मणि )। पक्षान्तर में नष्ट किये हुए शंखोंवाला।

( ५ ) कलुषीभवत्—कलुषित होनेवाले। 'मानसम्' का विशेषण है। अकलुषं कलुषं भवत् इति कलुषीभवत्, कलुष + च्वि + भू + शतृ ( कर्तरि )।

( ६ ) निरस्तगाम्भीर्यम्—नष्ट की हुई गम्भीरतावाले। 'मानसम्' का विशेषण है। निरस्तं गाम्भीर्यं यस्य तत् ( बहु० )। निरस्त—निर् + √अस् + क्त ( कर्मणि )। गम्भीरस्य भावः गाम्भीर्यम्।

( ७ ) अपास्तपुष्पकम्—हटाये हुए पुष्पक विमानवाले; पक्षान्तर में—हटाये हुए पुष्पोंवाले। अपास्त—अप + √अस् + क्त ( कर्मणि )। अपास्तं पुष्पकं यस्मात् तत् ( बहु० )।

( ८ ) मनुष्यधर्मणः—कुबेर के। मनुष्य के धर्म मोंछ आदि होने से कुबेर को 'मनुष्यधर्मा' कहा जाता है।

( ९ ) मानसम्—चित्त को, मानस-सरोवर को।

( १० ) मुहुः—बार-बार। अव्यय है।

( ११ ) न प्रकम्पयामास इति न—'नहीं प्रकम्पित किया' ऐसा नहीं, अर्थात् प्रकम्पित किया। जब किसी बात के साथ दो बार नकार का प्रयोग किया जाता है, तब उसका अर्थ नकारात्मक न होकर सकारात्मक होता है। प्र + √कम्प् + लिट्, प्र० पु० ए० व०।

व्याकरण—विभिन्नशङ्खः—विभिन्नः शङ्खः येन सः ( बहु० ) मनुष्य-धर्मणः—मनुष्यस्य धर्मः इव धर्मः यस्य सः तस्य ( बहु० )।

कोश—'मदो दर्पमदानयोः', 'शङ्खो निध्यन्तरे कम्बुललाटास्थिनखेषु च', 'मानसं सरसि स्वान्ते' इति च विश्व.। 'दन्ती दन्तावलो हस्ती', 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः'—इति च अमरः।

अब रावणकृत वरुणपराजय का वर्णन करते हैं—

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा
सरोषहुंकारपराङ्मुखीकृताः।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो
जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥५६॥

अन्वय—रणेषु, प्रचेतसा, प्रहिताः, उरगराजरज्जवः, तस्य, सरोषहुंकार-पराङ्मुखीकृताः, सभयाः, जवेन, प्रहर्तुः, एव, कण्ठं, प्रपेदिरे ॥५६॥

अनुवाद—युद्धों में वरुण द्वारा प्रयुक्त हुए नागपाश उस ( रावण ) के क्रोधपूर्ण हुङ्कार से पराङ्मुख तथा डरे हुए होकर वेग से प्रयोग करनेवाले ( वरुण ) के ही कण्ठ को प्राप्त हुए ॥५६॥

सर्वङ्कषा—रणेष्विति ॥ किञ्च रणेषु प्रचेतसा वरुणेन प्रहिताः प्रयुक्ता उरगराजा महासर्पास्ते रज्जव इव उरगराजरज्जवः। नागपाशा इत्यर्थः। तस्य रावणस्य सरोषहुङ्कारेण पराङ्मुखीकृता व्यावर्तिताः अत एव सभयाः सत्यः जवेन वेगेन प्रहर्तुः प्रयोक्तुः प्रचेतस एव कण्ठं प्रपेदिरे प्राप्ताः। अत्र परहिंसा प्रयुक्तस्या-युधस्य वैपरीत्येन स्वकण्ठग्रहणादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालंकारः। 'विरुद्धकार्य-स्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्' इति तल्लक्षणात् ॥५६॥

सारग्राहिणी—( १ ) रणेषु—युद्धों में।

( २ ) प्रचेतसा—वरुण द्वारा। प्रचेतस्, तृ० ए० व०।

( ३ ) प्रहिताः—प्रयुक्त हुए। 'उरगराजरज्जवः' का विशेषण है। प्र + √हि प्रेरणे + क्त ( कर्मणि )।

(४) उरगराजरज्जवः—नागपाश। उरगराज+रज्जु। प्र० व० व०। उरगाः—'उरसा गच्छन्ति' इस अर्थ में उरस् + √गम् + ड (कर्तरि)। उरग + राजन् + टच् (समासान्त) = उरगराज।

(५) तस्य—रावण के।

(६) सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः—क्रोधपूर्ण हुंकार से पराङ्मुख होकर। सरोष + हुङ्कार + पराङ्मुखीकृताः। हुङ्कारः—हुङ्करणमिति हुम् + √कृ + घञ् (भावे)। पराङ्मुखीकृताः—पराञ्चि मुखानि येषां ते पराङ्मुखाः। 'अपराङ्मुखाः पराङ्मुखाः सम्पद्यमानाः' इस अर्थ में पराङ्मुख + च्वि + कृ + क्त (कर्मणि)।

(७) सभयाः—भययुक्त होकर। भयेन सहिताः सभयाः।

(८) जवेन—वेग से।

(९) प्रहर्त्तुः एव कण्ठम्—मारनेवाले (वरुण) के ही कण्ठ को।

(१०) प्रपेदिरे—प्राप्त हुए। प्र + √पद् + लिट्, प्र० पु० व० व०।

व्याकरण—उरगराजरज्जवः—उरगाणां राजानः उरगराजाः ते एव रज्जवः (तत्पु०)। सरोषहुंकारपराङ्मुखीकृताः—रोषेण सहितः सरोषः, सरोषेण हुंकारेण पराङ्मुखीकृताः (तत्पु०)।

कोश—'अस्त्रिया समरानीकरणाः कलहविग्रहौ', 'प्रचेता वरुणः पाशी', 'उरगः पन्नगो भोगी'—इति च अमरः।

अब रावणकृत यम-महिष-विजय का वर्णन करते हैं—

परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनु-
र्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरा-
दुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः ॥५७॥

अन्वय—अमुना, धनुः, विधातुं, उत्खातविषाणमण्डलः, परेतभर्तुः, महिषः, भारे, हृते, अपि, महतः, त्रपाभरात्, भृशानतं, शिरः, दुःखेन, उवाह ॥५७॥

अनुवाद—उस ( रावण ) द्वारा धनुष बनाने के लिए उखाड़े हुए श्रृङ्गमण्डलवाला यमराज का भैंसा ( वाहन ), बोझ दूर किये जाने पर भी महा लज्जाभार से अत्यन्त अवनत मस्तक को दुःख से वहन करता रहा ॥ ५७ ॥

सर्वङ्कषा—परेतभर्तुरिति ॥ अमुना रावणेन धनुः शार्ङ्ग विधातुं निर्मातु-मुत्खातमुत्पाटितं विषाणयोः श्रृङ्गयोर्मण्डलं वलयं यस्य सः परेतभर्तुर्यमस्य महिषः। वाहनभूत इति भावः। भारे विषाणरूपे। भञो घञ्। हृतेऽपि महतस्त्रपैव भरस्तस्मात्। ततोऽपि दुर्भरादिति भावः। भृधातोः क्रैयादिकात् 'ऋदोरप्' इत्यप् प्रत्ययः। भृशमत्यर्थमानतं नम्रं शिरो दुःखेनोवाह वहति स्म। 'असंयोगा-ल्लिट् कित्' इति कित्वात् 'वचिस्वपि॰' इत्यादिना सम्प्रसारणम्। हृतेऽपि भारे नतमिति विरोधः। तदनुप्राणिता चेयमवनतिहेतुत्वसाधर्म्यात् त्रपा भरत्वोत्प्रेक्षा ॥ ५७ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) अमुना—उस रावण द्वारा।

( २ ) धनुः विधातुम्—धनुष् बनाने के लिए। वि + √धा + तुमुन् = विधातुम्।

( ३ ) उत्खातविषाणमण्डलः—उखाड़े हुए श्रृंगमण्डलवाला। उत्खात + विषाण + मण्डलः। उत्खात = उत् + √खत् + क्त ( कर्मणि )।

( ४ ) परेतभर्तुः—यमराज का। परेत—परा + √इ + क्त ( कर्मणि ); तेषां भर्ता तस्य।

( ५ ) महिषः—वाहनरूप भैंसा।

( ६ ) भारे हृते अपि-बोझ दूर किये जाने पर भी। 'भरति एतम्' इस अर्थ में भृञ् ( भ्वादि ) भरणे + घञ् ( कर्मणि ) = भारः; √हृ + क्त ( कर्मणि ) = हृत।

( ७ ) महतः—महान्, पुं॰ प्र॰ ए॰ व॰। 'त्रपाभरात्' का विशेषण है।

( ८ ) त्रपाभरात्—लज्जाभार से। हेतु में पञ्चमी हुई है। √त्रप् + अङ् ( भावे ) = त्रपा।

( ९ ) भृशानतम्—अत्यन्त अवनत। 'शिरः' का विशेषण है।

( १० ) शिरः—मस्तक को। 'वहन' क्रिया का कर्म है।

(११) उवाह—वहन क्रिया । √वह + लिट्, प्र० पु० ए० व० ।

व्याकरण—उत्खातविषाणमण्डलः—उत्खातं विषाणयोः मण्डलं यस्य सः (बहु०) । त्रपाभरात्—त्रपा एव भरः, तस्मात् ।

कोश—'धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्', 'लुलायो महिषो वाहद्विषत्कासरसैरिभाः', 'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा'—इति च अमरः ।

अलङ्कार—यहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलंकार व्यङ्ग्य है ।

अब रावणकृत सूर्य-विजय का वर्णन करते हैं—

स्पृशन् सशङ्कः समये शुचावपि
स्थितः कराग्रैरसमग्रपातिभिः ।
अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकै-
रलञ्चकारास्य वधूरहस्करः ॥ ५८ ॥

अन्वय—अहस्करः, शुचौ, समये, स्थितः, अपि, असमग्रपातिभिः, कराग्रैः, सशङ्कः, स्पृशन्, अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः, अस्य, वधूः, अलञ्चकार ॥ ५८ ॥

अनुवाद—सूर्य ग्रीष्मसमय में शुद्धाचरण में वर्तमान नायक के समान स्थित होकर भी सम्पूर्ण रूप में न गिरनेवाले किरणों (हाथों से) शङ्कासहित स्पर्श करता हुआ शीतल स्वेदबिन्दु रूप मोतियों द्वारा इस रावण की वधुओं को अलङ्कृत किया करता था ॥ ५८ ।

सर्वङ्कषा—स्पृशन्निति ।। अहः करोतीत्यहस्करः सूर्यः । 'दिवाविभानिशा०' इत्यादिना टप्रत्ययः । कस्कादित्वात्सत्वम् । शुचौ समये ग्रीष्मकाले अनुपहते आचारे च स्थितोऽपि । 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोरपि । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्' इति विश्वः । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । असमग्रपातिभिः । संकुचितवृत्तिभिरित्यर्थः । कराणामंशूनां हस्तानां चाग्रैः । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । सशङ्कः स्पृशन् । अविश्वासभयादितिभावः । अघर्मा अनुष्णा घर्मोदकबिन्दवः । 'मन्थौदन'० इत्यादिना विकल्पादुदकशब्दस्योदादेशाभावः । तैरेव मौक्तिकैरस्य वधूरलञ्चकार । ग्रीष्मे तद्भयाच्छा-

सह्यं तपतीत्यर्थः। अत्र प्रस्तुतसूर्यविशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतप्रस्तावकप्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः ॥ ५८ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) अहस्करः—सूर्य। अहः करोतीत्यहस्करः—अहन् + √कृ + ट ( कर्तरि )।

( २ ) शुचौ समये—ग्रीष्मकाल में; पक्षान्तर में,—पवित्र आचरण में।

( ३ ) स्थितः अपि—स्थित होकर भी। √स्था + क्त = स्थितः।

( ४ ) असमग्रपातिभिः—सम्पूर्ण रूप में न गिरनेवाले। 'कराग्रैः' का विशेषण है। असमग्र + पातिभिः।

( ५ ) कराग्रैः—किरणों के अग्रभागों से; पक्षान्तर में-हाथों के अग्रभागों से।

( ६ ) सशङ्कः स्पृशन्—शंका सहित स्पर्श करता हुआ। शंकया सहितः सशंकः, सहशंकः। स्पृशन् √स्पृश् + शतृ।

( ७ ) अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः—शीतल स्वेदबिन्दु रूप मोतियों से। करणे तृतीया। अघर्म + घर्मोदक + बिन्दु + मौक्तिकैः। मुक्ताएव ( मौक्तिकम् ) इस अर्थ में मुक्ता + ठक् ( ठस्येकः ) = मौक्तिकम्, तृ० ब० व०।

( ८ ) अस्य वधूः—रावण की वधुओं को। द्वि० ब० व०। 'अलकंरण' क्रिया का कर्म है।

( ९ ) अलञ्चकार—अलङ्कृत किया करता था। अलम् √ + कृ + लिट्, प्र० पु० ए० व०।

व्याकरण—असमग्रपातिभिः—न समग्रं पतन्ति ये ते तैः ( असमग्र + √पत् + णिनि ) अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः—न घर्माः अघर्माः, अघर्माः ये घर्मोदकस्य बिन्दवः तैः ( तत्पु० )।

कोश—'भास्कराहस्करब्रध्नप्रभाकरविभाकराः' इत्यमरः। 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते श्रृङ्गाराषाढयोरपि। ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्' इति विश्वः। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः', 'बलिहस्तांशवः कराः'—इति च अमरः।

अलंकार—यहाँ समासोक्ति अलंकार है।

चन्द्रमा द्वारा भी रावण का नर्मसाचिव्य किया जाता था; यह वर्णन करते हैं—

कलासमग्रेण गृहानमुञ्चता
मनस्विनीरुत्कयितुं पटीयसा ।
विलासिनस्तस्य वितन्वता रतिं
न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना ॥ ५९ ॥

अन्वय—कलासमग्रेण, गृहान्, अमुञ्चता, मनस्विनीः, उत्कयितुं, पटीयसा, रतिं, वितन्वता, इन्दुना, विलासिनः, तस्य, नर्मसाचिव्यं, न, अकारि, (इति) न ॥ ५९ ॥

अनुवाद—सम्पूर्ण कलाओं से युक्त, रावण के भवनों को न छोड़ते हुए, नायिकाओं को उत्कण्ठित करने में अति चतुर और अनुराग का विस्तार करनेवाले चन्द्रमा द्वारा विलासी उस (रावण) का नर्मसचिवत्व सम्पादन किया गया ॥ ५९ ॥

सर्वङ्कषा—कलासमग्रेणेति ॥ कलाभिः षोडशांशैः शिल्पविद्याभिश्च समग्रेण सम्पूर्णेन । 'काले शिल्पे वित्तवृद्धौ चन्द्रांशे कलने कला' इति वैजयन्ती । गृहानमुञ्चता सदा तद्गृहेष्वेववसता । दण्डभयात्सेवाधर्मत्वाच्चेति भावः । मनस्विनीर्मानिनीरुत्का उत्सुकाः कर्तुम् उत्कयितुम् । 'उत्क उन्मनाः' इति निपातनादुत्कशब्दात् 'तत्करोति०' इति ण्यन्तात् तुमुन् । पटीयसा । मानभेदचतुरेणेत्यर्थः । कुतः—रतिं वितन्वता चन्द्रिकाभिश्चतुरोक्तिभिश्च रागं वर्धयता इन्दुना विलासिनो विलसनशीलस्य । "वौ कषलस०' इत्यादिना घिनुण्प्रत्ययः । तस्य रावणस्य नर्मसाचिव्यं क्रीडासम्बन्ध्यधिकारित्वे सचेष्टत्वम् । 'लीला क्रीडा च नर्म च' इत्यमरः । नाकारीति न । किन्त्वकार्येवेत्यर्थः । अनौचित्यात्प्राप्तनर्मसाचिव्यनिषेधनिवारणार्थं नञ्द्वयम् । 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने नञ्द्वयम्' इति वामनः । अत्रेन्दोः प्रकृतस्याप्रकृतेन नर्मसचिवेन श्लेषः ॥ ५९ ॥

सारग्राहिणी—(१) कलासमग्रेण—सम्पूर्ण कलाओं सहित । 'इन्दुना' का विशेषण है । कलाभिः समग्रः (तत्पु०) चन्द्रपक्ष में १६ तथा नर्मसचिव पक्ष में ६४ कलाएँ लेनी ।

( २ ) गृहान् अमुञ्चता—रावण के भवनों को न त्यागनेवाले। अर्थात् चन्द्रमा रावण के भवन में सदा विद्यमान रहता था। अमुञ्चता—नञ् + √मुञ्च् + शतृ, तृ० ए० व०। 'इन्दुना' का विशेषण है।

( ३ ) मनस्विनोः—मानिनी नायिकाओं को। द्वि० व० व०।

( ४ ) उत्कयितुम्—उत्कण्ठित करने में। उत्क + णिच् + तुमुन् ( भावे )।

( ५ ) पटीयसा—अत्यन्त चतुर। 'इन्दुना' का विशेषण है। 'अतिशयेन पटुः' इस अर्थ में पटु + ईयसुन्, तृ० ए० व०।

( ६ ) रतिं वितन्वता—अनुराग को बढ़ानेवाले। 'इन्दुना' का विशेषण है। वितन्वता—वि + √तनु + शतृ, तृ० ए० व०।

( ७ ) इन्दुना—चन्द्रमा द्वारा। इन्दु, तृ० ए० व०। कर्मवाच्य। कर्ता अर्थ में तृतीया हुई है।

( ८ ) विलासिनः तस्य—विलासी उस रावण का। 'विलासः अस्य अस्ति' इस अर्थ में वि + √लस् + घिनुण् ( कर्तरि )।

( ९ ) नर्मसाचिव्यम्—नर्मसचिवत्व। नायिकाओं को अनुकूल बनाने आदि शृङ्गारचेष्टा में नायक के सहायक को 'नर्मसचिव' कहा जाता है। 'नर्मसचिवस्य भावः' इस अर्थ में नर्मसचिव + ष्यञ्।

( १० ) न अकारि ( इति ) न—किया जाता था। जब दो बार नकार को क्रिया के साथ जोड़ा जाता है, तब उसका अर्थ सकारात्मक होता है। अकारि—√कृ + लुङ् ( कर्मणि ), प्र० पु० ए० व०।

कोश—'कला तु षोडशो भागः', 'गृहाः पुंसि च भूम्न्येव', 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः'—इति च अमरः।

रावण द्वारा विनायक के दन्त के उत्पाटन का उत्प्रेक्षा से वर्णन करते हैं—

विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिका-
विधित्सया नूनमनेन मानिना।
न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं
विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति ॥ ६० ॥

**अन्वय**—मानिना, अनेन, विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनं, जातु, उद्धृतं, वैनायकं, एकं, विषाणं, अद्यापि, पुनः, न, प्ररोहति ॥ ६० ॥

**अनुवाद**—निश्चय ही, मानी इस रावण द्वारा चतुर विलासिनी स्त्रियों के योग्य दन्तपत्र-रचना बनाने की इच्छा से किसी समय उखाड़ा हुआ विनायक-सम्बन्धी एक दाँत आज भी पुनः नहीं बढ़ता है; अर्थात् अब गणेश का दाँत एक ही रह गया है ॥ ६० ॥

**सर्वङ्कषा**—विदग्धेति ॥ मानिनाऽहङ्कारिणा अनेन रावणेन विदग्धलीलाः। चतुरविलासिन्य इत्यर्थः। तासामुचिताश्च ता दन्तपत्रिकाश्च कर्णभूषणानि। 'विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रिका' इति साधीयान् पाठः। अन्यथा विप्रकृष्टार्थप्रतीतिकत्वेन कष्टाख्यार्थदोषापत्तेः। 'कष्टं तदर्थावगमो दूरायत्तो भवेत्' इति लक्षणात्। विलासिनीनां या विभ्रमदन्तपत्रिका विभ्रमार्थानि यानि दन्तमयपत्राणि। विभ्रमदन्त-शब्दयोः षष्ठीसमासपर्यवसानात् तादर्थ्यलाभः। तासां विधित्सया विधातुमिच्छया। विपूर्वाद् दधातेः 'सनि सीमा०' इत्यादिना अच इस्। 'सः सि' इति तकारः। अत्र 'लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः। 'ततः स्त्रियाम्' इत्यनुवृत्तौ 'अप्रत्ययात्' इत्यकारप्रत्यये टाप्। नूनं निश्चितं जातु कदाचिदपि। 'कदाचिज्जातु' इत्यमरः। उद्धृतमुत्पाटितं विनायकस्य गणेशस्येदं वैनायकमेकं विषाणं दन्तः। 'विषाणं पशुशृङ्गे स्यात्क्रीडा द्विरददन्तयोः' इति विश्वः। अद्यापि पुनर्न प्ररोहति न प्रादुर्भवति। प्रपूर्वात् 'रुह प्रादुर्भावे' इत्यस्माल्लट्। किमन्यदकार्यमस्येति भावः। एतदन्यथा कथं गजाननस्यैकदन्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते नूनमिति ॥ ६० ॥

**सारग्राहिणी**—( १ ) मानिना अनेन—मानी इस रावण द्वारा। 'मानः अस्य अस्ति' इस अर्थ में मान+इनि = मानिन्, तृ० ए० व०।

( २ ) विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया—चतुर विलासिनी स्त्रियों के लिए योग्य हस्ति-दन्त-निर्मित पत्र-रचना बनाने की इच्छा से। विदग्धलीला + उचित + दन्तपत्रिका + विधित्सया। विदग्धलीलाः–विदग्धाश्च ताः लीलाश्च [लीलाः आसां सन्ति इति लीला + अच् ( मत्वर्थ ) समासान्त ] इति विदग्धलीलाः। विधित्सया—'विधातुमिच्छा' वि + √धा + सन् + टाप् = विधित्सा, तृ० ए० व०।



( ३ ) जातु—किसी समय। यह 'कदाचित्' अर्थद्योतक अव्यय है।

( ४ ) उद्धृतम्—उखाड़ा हुआ; उत् + धृ + क्त ।

( ५ ) वैनायकम्—विनायक-सम्बन्धी । 'विषाणम्' का विशेषण है । 'विनायकस्य इदम्' इस अर्थ में—विनायक + अण्, आदिवृद्धि ।

( ६ ) एकं विषाणम्—एक दाँत ।

( ७ ) अद्य अपि—आज भी ।

( ८ ) पुनः—फिर से । अव्यय है ।

( ९ ) न प्ररोहति नूनम्—निश्चय ही नहीं बढ़ता है । प्ररोहति—प्र + रुह् + लट्, प्र० पु० ए० व० ।

व्याकरण—विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया—विधातुमिच्छा विधित्सा; विदग्धाश्चताः ( लीलावत्यश्च ) इति विदग्धलीलाः, विदग्धलीलानामुचिताः विदग्धलीलोचिताः ताश्चताः दन्तपत्रिकाश्च तासां विधित्सा तया ( तत्पु० ) ।

कोश—'विनायको विघ्नराजद्वैमातुरगणाधिपाः', 'कदाचिज्जातु'—इति च अमरः ।

रावण का प्रिय करनेवाले पवन द्वारा देवों के उपकार का वर्णन करते हैं—

निशान्तनारीपरिधानधूनन-
स्फुटागसाप्यूरुषु लोलचक्षुषः ।
प्रियेण तस्यानपराधबाधिता;
प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः ॥६१॥

अन्वय—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा, अपि, ऊरुषु, लोलचक्षुषः, तस्य, प्रियेण, प्रकम्पनेन, अनपराधबाधिताः, सुराः, अनुचकम्पिरे ॥६१॥

अनुवाद—अन्तपुर में रहनेवाली नायिकाओं के वस्त्र को चञ्चल करने से स्पष्ट अपराधी होने पर भी उनके जंघास्थल को देखने में चपल नेत्रोंवाले उस रावण के प्रेमपात्र पवन द्वारा बिना अपराध के पीड़ित देव अनुगृहीत हुए, अर्थात्—बन्धन से मुक्त कराये गये ॥६१॥

सर्वङ्कषा—निशान्तेति ॥ निशान्तं गृहम् । 'निशान्तं गृहशान्तयोः' इति विश्वः । तत्र या नार्यः । शुद्धान्तस्त्रिय इत्यर्थः । तासां परिधानान्यन्तरीयाणि ।

'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके' इत्यमरः। तेषां धूननं चालनम्। धूञो ण्यन्ताल्ल्युट्। 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्य' इति नुक्। तेन स्फुटागसाव्यक्तापराधेनाऽपि। अन्तः पुरद्रोहस्य महापराधत्वादिति भावः। ऊरुषु तासां सक्थिषु लोलचक्षुषः सतृष्णदृष्टेः। 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इति, 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इति चामरः। अत एव रावणस्य प्रियेण प्रमोदास्पदभूतेन। अङ्गीकृता म्लानिर्न दोषायेति न्यायादिति भावः। प्रकम्पनेन वायुना अनपराधेऽपराधाभावेऽपि बाधिताः। राजपुरुषैरिति शेषाः। सुरा अनुचकम्पिरे। स्वयमुपायेनान्तः प्रविश्यानपराधबाधा-निवेदनेन मोचयता वायुनाऽनुकम्पिता इत्यर्थः। एकस्य वैदग्ध्याद् बहवो जीवन्तीति भावः ॥६१॥

सारग्राहिणी—( १ ) निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा अपि—अन्तःपुर में रहनेवाली नायिकाओं के वस्त्र को चञ्चल करने से स्पष्ट अपराधी होने पर भी। निशान्त + नारी + परिधान + धूनन + स्फुटागसा। 'प्रकम्पनेन' का विशेषण है। 'परिधानधूनन से अपराधीः' यहाँ हेतु में तृतीया है; तथा इस अंश में तृतीया तत्पुरुष समास हुआ है।

( २ ) ऊरुषु—जांघों के विषय में। उन नायिकाओं के जंघाप्रदेश को देखने के बारे में।

( ३ ) लोलचक्षुषः तस्य—चञ्चल नेत्रोंवाले उस रावण के लोले चक्षुषी यस्य सः तस्य ( बहु० )।

( ४ ) प्रियेणी—प्रेमपात्र। 'प्रकम्पनेन' का विशेषण है।

( ५ ) प्रकम्पनेन—पवन द्वारा। प्र + √कम्प् + ल्युट् = प्रकम्पन, तृ० ए० व०।

( ६ ) अनपराधबाधिताः—बिना अपराध के त्रास दिये गये। 'सुराः' का विशेषण है। अनपराध + बाधिताः। बाधित—√बाध् + क्त।

( ७ ) सुराः—देव। 'अनुकम्पन' क्रिया का कर्म है।

( ८ ) अनुचकम्पिरे—अनुगृहीत किये गये। अर्थात् उसके ( रावण के ) बन्धन में से पवन द्वारा देवता मुक्त किये गये। अनु + √कम्प् + लिट् (कर्मणि), प्र० पु० ब० व०।

व्याकरण—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा—निशान्ते या नार्यः— निशान्तनार्यः, तासां परिधानानि तेषां धूननेन स्फुटम् आगः यस्य सः तेन ( बहु० )। अनपराधबाधिताः—अविद्यमानः अपराधः, अनपराधः, अनपराधे बाधिताः ( तत्पु० )।

कोश—'निशान्तपस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम्', 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके,' 'सक्थ क्लीबे पुमानूरुः', 'लोलश्चलसतृष्णयोः', 'ईक्षणं चक्षुरक्षिणी'—इति च अमरः।

रावणकृत अग्नि-पराजय का वर्णन करते हैं—

> तिरस्कृतस्तस्य जनाभिभाविना
> मुहुर्महिम्ना महसां महीयसाम्।
> बभार बाष्पैर्द्विगुणीकृतं तनु-
> स्तनूनपाद्धूमवितानमाधिजैः ॥६२॥

अन्वय—तस्य, जनाभिभाविना, महीयसां, महसां, महिम्ना, मुहुः, तिरस्कृतः, तनुः, तनूनपात्, आधिजैः, बाष्पैः, द्विगुणीकृतं, धूमवितानं, बभार ॥६२॥

अनुवाद—उस रावण के लोकों को तिरस्कृत करनेवाले अतिश्रेष्ठ तेज के माहात्म्य से बार-बार तिरस्कृत हुआ अतएव दुर्बल अग्नि मानसव्यथा से उत्पन्न अश्रुओं से दूने धूममण्डल को धारण करता रहा ॥६२॥

सर्वङ्कषा—तिरस्कृत इति ॥ किञ्च तस्य रावणस्य जनाभिभाविना लोकतिरस्कारिणा महीयसामतिमहतां महसां तेजसां महिम्ना महत्त्वेन। 'पृथ्व्यादिभ्य इमनिज्वा' इतीमनिच्। मुहुस्तिरस्कृतः अतएव तनुः कृशः। तनुं न पातयति जाठररूपेण शरीरं धारयतीति तनूनपादग्निरिति स्वामी। 'नभ्राट्०' इत्यादिसूत्रेण निपातनान्नञो नलोपाभावः। आधिजैर्दुःखोत्थैर्बाष्पैः निश्वासोष्मभिः। 'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः', पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इति विश्वामरौ। द्वौ गुणावावृत्ती यस्य सः द्विगुणः। ततश्च्विः। द्विगुणीकृतं द्विरावृत्तम्। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती। धूमवितानं धूममण्डलं बभार। अग्निरपि तस्मात् भीतो

निस्तेजस्को धूमायमान अस्ति इत्यर्थः। धूमद्वैगुण्यासम्बन्धे सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥६२॥

साहग्राहिणी—( १ ) तस्य—उस रावण के।

( २ ) जनाभिभाविना—लोगों का अभिभव करनेवाले। 'महिम्ना' का विशेषण है। जन + अभिभाविना 'जनानभिभवति' इस अर्थ में जन + अभि + भू + णिनि, तृ० ए० व०।

( ३ ) महीयसाम्—अतिश्रेष्ठ। 'अतिशयेन महान्ति' इस अर्थ में महत् + ईयसुन्, ष० व० व०। 'महसाम्' का विशेषण।

( ४ ) महसाम्—तेजों के। महस्; ष० ब० व०।

( ५ ) महिम्ना—माहात्म्य से। 'महतः भावः' इस अर्थ में महत् + इमनिच् = महिमन्, तृ० ए० व०।

( ६ ) मुहुः—बार-बार। इस अर्थ का वाचक एक अव्यय है।

( ७ ) तिरस्कृतः—अपमानित हुआ। 'तनूनपात्' का विशेषण है। तिरस् + √कृ + क्त।

( ८ ) तनुः—कृश, दुर्बल। 'तनूनपात्' का विशेषण है।

( ९ ) तनूनपात्—अग्नि। 'तनुं न पातयति' इस अर्थ में तनू + न + √पत् + णिच् + क्विप् ( कर्तरि ) = तनूनपात्।

( १० ) आधिजैः बाष्पैः—मानस-व्यथा से उत्पन्न अश्रुओं से। आधिजैः 'आधीयते' इस अर्थ में आ + √धा + कि ( कर्मणि ) = आधिः; आधेः जातैः = आधिजैः।

( ११ ) द्विगुणीकृतम्—दूना किये हुए। 'धूमवितानम्' का विशेषण है। अद्विगुणं द्विगुणं सम्पद्यमानं कृतमिति द्विगुणीकृतम्; द्विगुण + च्वि + √कृ + क्त।

( १२ ) धूमवितानम्—धूममण्डल को। धारण-क्रिया का कर्म है। अन्य टीकाकारों ने 'धूमसमूह' अर्थ भी किया है।

( १३ ) बभार—धारण करता रहा। √भृ + लिट्, प्र० पु० ए० व०।

कोश—'वाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इति विश्वः। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्ये-न्द्रियामुख्यतन्तुपु' इति वैजयन्ती। 'पुंस्याधिर्मानसीव्यथा', 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः', 'कृपीटयोनिर्ज्वलनो जातवेदास्तनूपात्'—इति च अमरः।

अब रावणकृत नागविजय का वर्णन करते हैं—

परस्य मर्माविधमुज्झतां निजं
द्विजिह्वतादोषसजिह्मगामिभिः।
तमिद्धमाराधयितुं सकर्णकैः
कुलैर्न भेजे फणिनां भुजङ्गता ॥ ६३ ॥

अन्वय—इद्धं, तं, आराधयितुं, परस्य, मर्माविधं, निजं, द्विजिह्वतादोषं, उज्झतां, अजिह्मगामिभिः, सकर्णकैः फणिनां, कुलैः, भुजङ्गता, न, भेजे ॥ ६३ ॥

अनुवाद—प्रदीप्त उस रावण की सेवा करने के लिए दूसरे के मर्मस्थल को भेदन करनेवाले अपने दो जिह्वारूपी ( खल के पक्ष में—चुगलखोरीरूपी ) दोष को छोड़नेवाले, सर्पों के सरल जानेवाले कर्णयुक्त समूहों द्वारा सर्पत्व ( कुटिलता—पक्षान्तर में ) नहीं ग्रहण किया गया ॥ ६३ ॥

सर्वङ्कषा—परस्येति ॥ किञ्च इद्धं दीप्तम् उग्रमित्यर्थः। इन्धी दीप्तौ कर्त्तरि क्तः। तं रावणमाराधयितुं सेवितुं परस्य स्वेतरस्य मर्माणि हृदयादिजीवस्थानानि कुलाचारव्रतानि च विध्यति भिनत्तीति मर्मावित्। विध्यतेः क्विप् 'ग्रहिज्या०' इति सम्प्रसारणम्। 'नहिवृति०' इत्यादिना पूर्वस्य दीर्घः। तं मर्माविधं निजं स्वीयं द्विजिह्वतायां सर्पत्वे यो दोषो दृष्टिविषत्वादिस्तम्। अन्यत्र द्विजिह्वता पिशुनता। 'द्विजिह्वे सर्पसूचकौ' इत्यमरः। सैव दोषस्तमुज्झतां त्यजतां फणिनां सम्बन्धिभि-रजिह्मगामिभिः करचरणादिमद्विग्रहधारित्वादृजुगतिभिस्तैः। अकपटचारिभिश्च। तथा कर्णाभ्यां सह वर्त्तन्त इति सकर्णकास्तैः। चक्षुःश्रवस्त्वं विहाय आविष्कृतकर्णैरित्यर्थः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः। 'शेषा-द्विभाषा' इति कप्। अन्यत्र कर्णयति सर्वं शृणोतीति कर्णको नियन्ता। कर्णयतेर्ण्वुल्। ततः पूर्ववत् समासे सकर्णकैः। सनियामकैरित्यर्थः। फणिनां सर्पाणां

कुलैर्वर्गैर्भुजङ्गता सर्पता विटत्वं च। 'भुजङ्गो विटसर्पयोः' इति हलायुधः। न भेजे त्यक्ता। भुजैर्गच्छन्तीति भुजङ्गाः। गमेः सुपि खच् च डिद् वा वाच्यः। तस्मिन्नियन्तरि खलैः खलत्वमपि सर्पैः सर्पत्वमपि पिहाय वेषभावक्रियाभिः सौम्यत्वं श्रितमित्यर्थः। अत्र प्रस्तुतसर्पविशेषणसाम्यादप्रस्तुतखलव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिः ॥ ६३ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) इद्धम्—प्रदीप्त । √इन्ध् + क्त ( कर्तरि—वर्तमान में )।

( २ ) तम्—उस रावण की।

( ३ ) आराधयितुम्—सेवा करने के लिए। आ + √राध् + णिच् + तुमुन् ( भावे )।

( ४ ) परस्य—अपने से अन्य के।

( ५ ) मर्माविधम्—मर्म को वेधनेवाले। 'दोषम्' का विशेषण है। पक्षान्तर ( दुष्टपक्ष ) में—चरित्रदूषक अर्थ है। 'मर्माणि विध्यति' इस अर्थ में मर्मन् + √व्यध् + क्विप् = मर्माविध्, द्वि० ए० व०।

( ६ ) निजम्—अपने।

( ७ ) द्विजिह्वतादोषम्—दो जिह्वाएँ होना रूपी दोष को, पक्षान्तर में—चुगलखोरी रूपी दोष को। द्वे जिह्वे यस्य सः द्विजिह्वः तस्य भावः द्विजिह्वता ( द्विजिह्व + तल्— भावेऽर्थे ) सैव दोषः तम् ( बहु० गर्भ तत्पु० )।

( ८ ) उज्झताम्—त्यागनेवाले। 'फणिनाम्' का विशेषण है। √उज्झ् + शतृ; ष० ब० व०।

( ९ ) फणिनाम्—सर्पों के। फणाः सन्ति येषां ते फणिनः, तेषाम्।

( १० ) अजिह्मगामिभिः—सरल चलनेवाले। 'कुलैः' का विशेषण है। पक्षान्तर में—कपटभाव को त्यागकर सीधे व्यवहार को करनेवाले। न जिह्मम् अजिह्मम्; 'अजिह्मं गच्छन्ति' इस अर्थ में अजिह्म + √गम् + णिनि ( ताच्छील्य अर्थ में ); तृ० ब० व०।

( ११ )सकर्णकैः—आंखों से सुनना रूप धर्म को त्यागकर कर्णयुक्त हुए। पक्षान्तर में—[illegible] हुए। ये कर्णैः सह वर्तन्ते तैः इति

सकर्णकैः। पक्षान्तर में—'कर्णेन गृह्णाति ( शृणोति )' इस अर्थ में कर्ण + णिच् + ण्वुल् √कर्णि ( नामधातु ) + ण्वुल् + कर्णक। कर्णकेन सह वर्तन्ते, तैः, इति, सकर्णकैः ( बहु० ) 'तेन सहेति तुल्ययोगे'

( १२ ) कुलैः—समूहों द्वारा। 'भजन' क्रिया का कर्त्ता।

( १३ ) भुजङ्गता—सर्पत्व। पक्षान्तर में—दुष्टता। भुजेन गच्छतीति भुजङ्गः, 'तस्य भावः' इस अर्थ में भुजङ्ग + तल् + टाप्। 'भजन' क्रिया का कर्म है।

( १४ ) न भेजे—नहीं ग्रहण की गयी। √भज् + लिट् ( कर्मणि ), प्र० पु० ए० व०।

कोश—'कुण्डली गूढपाच्चक्षुः श्रवाः काकोदरः फणी', कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः', 'सजातीयैः कुलम्'—इति च अमरः। 'भुजङ्गो विटसर्पयोः' इति हलायुधः।

रावणकृत दिग्गज-विजय का वर्णन करते हैं—

तदीयमातंगघटाविघट्टितैः
कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः।
गृहीतदिक्कैरपुनर्निवर्तिभि-
श्चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः ॥६४॥

अन्वय—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः, कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः; गृहीतदिक्कैः, अपुनर्निवर्तिभिः, दिग्गजैः, चिराय, याथार्थ्यं, अलम्भि ॥६४॥

अनुवाद—उस ( रावण ) के गजसमूहों से ताड़ित हुए, गण्डस्थल के मदजल से रहित, अपनी-अपनी दिशा का आश्रय किये हुए दिग्गजों द्वारा लम्बे समय तक ( अपने नाम की ) यथार्थता प्राप्त की गयी ॥६४॥

सर्वङ्कषा—तदीयेति॥ तदीयमातङ्गानां घटाभिर्व्यूहैः विघट्टितैरभिहतैः। 'गजानां घटना घटा' इत्यमरः। अत एव कटस्थलेभ्यः प्रोषितान्यपगतानि दानवारीणि येषां तैः गृहीताः पलाय्य संश्रिता दिशो यैस्तैर्गृहीतदिक्कैः। 'शेषाद्विभाषा'

इति कप् । अपुनर्निवर्तिभिर्भयात् तत्रैव स्थितैर्दिग्गजैः चिराय याथार्थ्यं दिक्षु स्थिता गजा दिग्गजा इत्यनुगतार्थनामकत्वमलम्भि लब्धम् । लभेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति विकल्पान्नुमागमः ॥६४॥

सारग्राहिणी—( १ ) तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः—उस ( रावण ) के गज-समूहों से ताड़ित हुए । 'दिग्गजैः' का विशेषण है । तदीय + मातङ्ग + घटा + विघट्टितैः । तदीयः—'तस्य इमे' इस अर्थ में तद् + छ । घटा—घट + अङ् + टाप् । विघट्टितैः—वि + घट्ट + क्त । तृ० ब० व० ।

( २ ) कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः—गण्डस्थल के मदजल से रहित । कटस्थल + प्रोषित + दान + वारिभिः । प्रोषित—प्र + √वस + क्त (कर्तरि) ।

( ३ ) गृहीतदिक्कैः—अपनी-अपनी दिशा का आश्रय किये हुए । गृहीताः दिशः यैस्ते तैः ( बहु० ) ।

( ४ ) अपुनर्निवर्तिभिः—पुनः वापस न लौटनेवाले । 'पुनः निवर्तन्ते' इस अर्थ में पुनर् + नि + √वृत् + णिनि ( कर्तरि ) पुनर्निवर्तिनः, न पुनर्निवर्तिनः = अपुनर्निवर्तिनस्तैः ।

( ५ ) दिग्गजैः—दिग्गजों द्वारा । निम्नलिखित ये आठ दिशाओं में रहने-वाले आठ दिग्गज हैं—'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः । पुष्पदन्तः सार्व-भौम सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥'

( ६ ) चिराय—लम्बे समय तक । अव्यय है ।

( ७ ) याथार्थ्यम्—अपने नाम की यथार्थता । यथार्थस्य भावः यथार्थ + ष्यञ् = याथार्थ्यम् । [ अर्थस्य अनतिक्रमः यथार्थम्, 'यथार्थमस्ति यस्य सः' इस अर्थ में यथार्थ + मत्वर्थे अच् ] ।

( ८ ) अलम्भि—प्राप्त किया गया था । लभ् + णिच् + लुङ् ( आत्मनेपद, कर्मणि ), प्र० पु० ए० व० ।

व्याकरण—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः—तस्य इमे तदीयाः, तदीयाः ये मातङ्गाः तेषां घटा; ताभिः विघट्टिताः तदीयमातङ्गघटाविघट्टिताः तैः (तत्पु०) ।

कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः—कटस्थलेभ्यः प्रोषितानि दानवारीणि येषां तैः (बहु० ) ।

कोश—ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः', 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः', 'करिणां घटना घटा' —इति च अमरः :

रावण द्वारा बन्दी बनायी गयी देवेन्द्रस्त्रियों के प्रति लोलुपता का वर्णन करते हैं—

अभीक्ष्णमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः
सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैर्यथा ।
सचन्दनाम्भःकणकोमलैस्तथा
वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ ।। ६५ ।।

अन्वय—सोष्मणः तस्य, वपुः, अभीक्ष्णं, उष्णैः, सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैः, यथा (निर्ववौ), तथा, सचन्दनाम्भःकणकोमलैः, जलार्द्रापवनैः, न, निर्ववौ ।।६५।।

अनुवाद—कामज्वर से युक्त उस रावण का देह बन्दो बनायी हुई इन्द्र-सम्बन्धी देवस्त्रियों के अति उष्ण निःश्वास के पवनों से जिस प्रकार सुखी होता था, उस प्रकार चन्दन मिश्रित जलकणों से कोमल जलार्द्र पंखों के पवनों से सुखी नहीं होता था ।। ६५ ।।

सर्वङ्कषा—अभीक्ष्णमिति ।। ऊष्मणा स्मरज्वरेण सहितः सोष्मा तस्य सोष्मणस्तस्य रावणस्य वपुरभीक्ष्णं भृशमुष्णैरपि ।। शोकादिति भावः । सुरेन्द्रस्य बन्धः स्त्रियः तासां श्वसितानिलैर्निःश्वासमारुतैर्यथा निर्ववौ निर्वृतम् । 'निर्वाण निर्वृतौ मोक्षे' इति वैजयन्ती । तथा सचन्दनाम्भःकणाः चन्दनोदकबिन्दुसहिताः ते च ते कोमला मृदुलाश्च तैर्जलार्द्राणां जलोक्षिततालवृन्तानां पवनैर्न निर्ववौ । 'धवित्रं तालवृन्तं स्यादुत्क्षेपव्यजनं च तत् । जलेनार्द्रं जलार्दा स्यात्' इति वैजयन्ती ।

अत्र सन्तमस्योष्णोपचाराग्निर्वृतिरिति कारणविरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः ।। ६५ ।।

सारग्राहिणी—( १ ) सोष्मणः तस्य—कामज्वर से युक्त उस रावण का। ऊष्मणा सहितः सोष्मा तस्य सोष्मणः।

( २ ) वपुः—शरीर।

( ३ ) अभीक्ष्णम् उष्णैः—अत्यन्त उष्ण। ····'श्वासितानिलैः' का विशेषण है।

( ४ ) अपि—भी। अव्यय है।

( ५ ) सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः—वन्दी वनायी हुई इन्द्र-सम्बन्धी देवस्त्रियों के श्वास-पवनों से। सुरेन्द्र + वन्दी + श्वसित + अनिल। श्वसित—श्वस् + क्त। यहाँ मल्लिनाथ 'सुरेन्द्रस्य वन्धः' ऐसा अर्थ करते हैं। रावण द्वारा बन्दी वनायी हुई इन्द्र-सम्बन्धी स्त्रियाँ' अर्थ अन्य टीकाकारों ने लिया है।

( ६ ) यथा निर्ववौ—जिस प्रकार सुख को प्राप्त हुआ। निर्ववौ—निर् + वा + लिट्, प्र० पु० ए० व०।

( ७ ) तथा—उस प्रकार।

( ८ ) सचन्दनाम्भःकणकोमलैः—चन्द्रनमिश्रित जलकणों से कोमल। '····पवनैः' का विशेषण है। सचन्दन + अम्भःकण + कोमलैः।

( ९ ) जलार्द्रपवनैः—जलार्द्र पंखों के पवनों से। जलार्द्रा + पवनैः; अथवा जलार्द्र + आ ( आसमन्तात् ) पवनैः।

( १० ) न ( निर्ववौ )—नहीं सुखी हुआ।

व्याकरण—सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः—सुरेन्द्रस्य या बन्द्यः तासां यानि श्वसितानि तेषामनिलाः तैः ( तत्पु० )। सचन्दनाम्भःकणकोमलैः—चन्दनेन सहितं यद् अम्भः = सचन्दनाम्भः, तस्य कणाः तैः ये: कोमलाः तैः ( तत्पु० )। जलार्द्रपवनैः—जलेन आर्द्राः ये पवनाः तैः; अथवा जलार्द्रायाः पवनाः तैः ( तत्पु० )।

कोश—'श्रीखण्डाम्बुयुतं वस्त्रं जलार्द्रेत्यभिधीयते', 'गात्रं वपुः संहननम्', 'गन्धवाहानिलाशुगाः'—इति च अमरः।

अलंकार—यहाँ विषमालंकार है, क्योंकि सन्तप्त रावण के सन्ताप का उपचार सुरेन्द्रवन्दी के उष्ण निःश्वास से बतलाया गया है।

अब षड्ऋतुओं द्वारा की जानेवाली रावण की सेवा का वर्णन करते हैं—

तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो
वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः
पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥६६॥

अन्वय—सदा, प्रसूनक्लृप्ति, दधतः, ऋतवः, वर्षाः, तपेन, हिमागमः, शरदा, शिशिरश्च, वसन्तलक्ष्म्या, समेत्य, अस्य, पुरे, वास्तव्यकुटुम्बितां, ययुः ॥६६॥

अनुवाद—सदा पुष्पसम्पत्ति को धारण करते हुए सब ऋतु वर्षा ग्रीष्म के साथ, हेमन्त शरद् के साथ तथा शिशिर वसन्त-श्री के साथ मिलकर इस रावण के नगर में निवास करनेवाले गृहस्थ के रूप को प्राप्त हुए ॥६६॥

सर्वङ्कषा—तपेनेति ॥ सदा नित्यं न तु यथाकालं प्रसूनक्लृप्तिं कुसुमसम्पत्तिम्। 'प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इत्यमरः। दधतो धारयन्तः ऋतवो वर्षाः प्रावृट् तपेन ग्रीष्मेण। 'उष्णऊष्मागमस्तपः' इति, 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा अथ शरत्स्त्रियाम्' इति चामरः। तथा हिमागमो हेमन्तः शरदा, तथा शिशिरो वसन्तलक्ष्म्या च समेत्य मिथुनीभावेन मिलित्वा अस्य रावणस्य पुरे वसन्तीति वास्तव्या वस्तारः। 'वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च' इति तव्यत्प्रत्ययः। ते च कुटुम्बिनश्च तेषां भावं तत्ताम्। प्रतिवासित्वमित्यर्थः। ययुः। समेत्य ययुरिति समुदायसमुदायिनोरभेदविवक्षया समानकर्तृत्वम्। अत्र पुरे युगपत् सर्वर्तुसम्बन्धाभिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥६६॥

सारग्राहिणी—(१) सदा—हमेशा। अव्यय है।

(२) प्रसूनक्लृप्तिम्—पुष्प-सम्पत्ति को। क्लृप्ति—क्लृप् + क्तिन् ( स्त्रियां क्तिन् ) भावे।

( ३ ) दधतः—धारण करते हुए। धा + शतृ, प्र० व० व०।

( ४ ) ऋतवः—सक ऋतु, ऋतु छः हैं।

( ५ ) वर्षाः तपेन—वर्षा ग्रीष्म के साथ मिलकर ( समेत्य ) प्रत्येक के युगल के साथ 'समेत्य' अन्वित होगा। यहाँ इस प्रत्येक युगल में वर्षा, शरद् और वसन्तलक्ष्मी स्त्रीलिंग होने से नायिका रूप तथा तप ( ग्रीष्म ), हिमागम तथा शिशिर पुल्लिग होने से नायक रूप प्रतीत हो रहे हैं।

( ६ ) हिमागमः शरदा—हेमन्त शरद् के शाथ मिलकर ( समेत्य )।

( ७ ) शिशिरः वसन्तलक्ष्म्या च—और शिशिर वसन्त-श्री के साथ।

( ८ ) समेत्य—मिलकर, संयुक्त रूप में आकर। सम् + आ + √इण् + ल्यप्।

( ९ ) अस्य पुरे—इस रावण की लंका नगरी में।

( १० ) वास्तव्यकुटुम्बिताम्—निवास करनेवाले गृहस्थ के रूप को। वास्तव्य + कुटुम्बिताम्। वसन्ति इति वस् + तव्यत् ( कर्तरि ) = वास्तव्य। 'कुटुविनां भावः' कुटुम्बि + तल् + टाप्, द्वि० ए० व०।

( ११ ) ययुः—प्राप्त हुए। √या + लिट्, प्र० पु० व० व०।

व्याकरण—प्रसूनक्लृप्तिम्—प्रसूनानां क्लृप्तिः ताम् ( तत्पु० )। वास्तव्याश्च ते कुटुम्बिनश्च इति वास्तव्यकुटुम्बिनः, तेषां भावः वास्तव्यकुटुम्बिता ताम् ( तत्पु० )।

कोश—'प्रसूनं कुसुमं सुमम्', 'उष्ण ऊष्मागमस्तपः', 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा अथ शरत्स्त्रियाम्', 'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' इति च अमरः।

अलंकार—यहाँ एककाल में सब ऋतुओं का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध-वर्णन किया गया है; अतः, असम्बन्धे सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति है।

उस रावण ने आपको राम नाम से मानव अवतार लिया हुआ समझकर भी जानकी को नहीं वापस दिया, यह इस श्लोक में वर्णन करते हैं—

स चायमासन्नविनाशस्तुभ्यमपि द्रुग्ध्वा पुनस्त्वयैव हत इति युग्मेनाह--

अमानवं जातमजं कुले मनोः
प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः ।
मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः
सदाभिमानैकधना हि साधवः ॥ ६७ ॥

अन्वय—अमानवं, अजं, मनोः, कुले, जातं, प्रभाविनं (भवन्तं), आत्मनः, अन्तं, जानन्, अपि, यः, जानकीं, न, मुमोच, हि, मानिनः, सदाभिमानैकधनाः ॥ ६७ ॥

अनुवाद—वास्तव में मानवभिन्न तथा कभी भी न उत्पन्न होनेवाले होते हुए भी मनु के वंश में उत्पन्न प्रभावयुक्त आपको अपना भावी अन्तकारक जानते हुए भी जिसने जानकी को वापस नहीं दिया, क्योंकि मानी जन सदा मान मात्र धनवाले होते हैं ॥ ६७ ॥

सर्वङ्कषा—अमानवमिति ॥ मनोरयं मानवः । 'तस्येदम्' इत्यण् प्रत्यये पर्यवसानाज्जातावेकवचनम् । अन्यथा मनोर्जातमित्येव स्यात् । अमानवममानुषम् । न जायत इत्यजम् । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । तथापि मनोः कुले जातं रामस्वरूपेणोत्पन्नमिति विरोधः । स चाभासत्वादलङ्कार इत्याह—प्रभाविनमिति । महानुभावे तस्मिन्न कश्चिद् विरोध इति भावः । आभीक्ष्ण्ये णिनिः इति णिनिः । इनिर्वा मत्वर्थीयः । भवन्तमिति शेषः । आत्मनः स्वस्यान्तम् । अन्त करोतीत्यन्तम् । अन्तशब्दात् 'तत्करोति०' इति ण्यन्तात्पचाद्यच् । भाविनं भविष्यन्तम् । भविष्यति गम्यादयः । जानन्नपि यो रावणः जनकस्यापत्यं स्त्री जानकी सीता तां न मुमोच नामुञ्चदित्यन्वयः । जानतोऽप्यमोचने कारणमाह—मानिनः सदा प्राणात्ययेऽप्यभिमान एवैकं मुख्यं धनं येषां ते प्राणात्ययेऽपि न मानं मुञ्चन्तीत्यर्थः । कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६७ ॥

सारग्राहिणी—(१) अमानवम्—मानव से भिन्न । 'मनोः त्वयम्' इति मनु + अण् = मानवः न मानवः अमानवस्तम् ।

( २ ) अजम्--जन्मरहित । 'न जातः'' इति नञ् + जन् + ड ( कर्तरि-भूते ) = अजः, तम् ।

( ३ ) मनोः कुले जातम्—मनु के वंश में उत्पन्न । जातम्—√जन् + क्त, द्वि० ए० व० ।

( ४ ) प्रभाविनम् ( भवन्तम् )—प्रभावयुक्त आपको । प्रभाव + इनि ।

( ५ ) भाविनम्—भविष्यत् में होनेवाला । अवश्यं भविष्यति इति भू० + णिनि ( कर्तरि ) = भाविन्, तम् ।

( ६ ) आत्मनः अन्तम्--अपना विनाश ( अन्त ) करनेवाला । अन्तम्--'अन्तयति' इस अर्थ में अन्त ( तत्करोति तदाचष्टे से ण्यन्त बनाकर ) + अच् । द्वि० ए० व० ।

( ७ ) जानन् अपि—जानते हुए भी । जानन्—√ज्ञा + शतृ ।

( ८ ) यः—जिस रावण ने ।

( ९ ) जानकीम्--सीता को । 'जनकस्य अपत्यं स्त्री' इस अर्थ में जनक + अण् + ङीप् । द्वि० ए० व० ।

( १० ) न मुमोच—नहीं छोड़ा, नहीं वापस दिया । √मुच् + लिट्, प्र० पु० ए० व० ।

( ११ ) हि—क्योंकि । अव्यय है ।

( १२ ) मानिनः—मानी जन ।

( १३ ) सदा—हमेशा ।

( १४ ) अभिमानैकधनाः—अभिमान मात्र धनवाले । अभिमान + एक + धनाः । एक शब्द का अर्थ मल्लिनाथ ने 'मुख्य' किया है । अभिमानः—√अभिमन् + घञ् ( भावे ) । अभिमानः एकं धनं येषां ते ( बहु० ) ।

( १५ ) भवन्ति—होते हैं ।

कोश—'सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ', 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः'--इति च अमरः ।

अलङ्कार—यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है, सामान्य से विशेष का समर्थन किया गया है ।

आपने रामावतार लेकर उस रावण का वध किया, यह वर्णन करते हैं—

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन्भवान्
अमुं वनान्ताद् वनितापहारिणम् ।
पयोधिमाबद्धचलज्जलाविलं
विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति ॥६८॥

अन्वय—भवान्, दाशरथिः, भवन्, वनान्तात्, वनितापहारिणं, अमुं, आबद्धचलज्जलाविलं, पयोधिं, विलङ्घ्य, लङ्का, निकषा, हनिष्यति, अदः, स्मरति ॥६८॥

अनुवाद—आपने दशरथ के पुत्र राम होते हुए दण्डकवन के मध्य से पत्नी का हरण करनेवाले इस रावण को सेतु बांधने से चंचल हुए जल के कारण कलुषित समुद्र को पारकर लंका के समीप मारा था, क्या आप यह स्मरण कर रहे हैं ?

सर्वङ्कषा– स्मरतीति ॥ भातीति भवान् । भातेर्डवतुः । दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथिः । 'अत इञ्' इतीञ् प्रत्ययः । भवन् रामः सन्नित्यर्थः । भवतेर्लटः शत्रादेशः । वनान्ताद् दण्डकारण्याद् वनितापहारिणं सीतापहर्तारममुं रावणम् । आबद्धः प्रक्षिप्ताद्रिभिर्बद्धसेतुः अत एव चलन्ति जलानि यस्य स च । अत एव आविलश्च तमाबद्धचलज्जलाविलं पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा लङ्कासमीपे । 'समयानिकषाशब्दौ सामीप्ये त्वव्यये मतौ' । इति हलायुधः । 'अभितः परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया । हनिष्यति अवधीत् । 'अभिज्ञावचने लृट्' इति भूते लृट् । अदो हननं भवान् स्मरतीति काकुः । प्रत्यभिजानासि किमित्यर्थः । शेषे प्रथमः ॥६८॥

सारग्राहिणी—( १ ) भवान्—आप । अर्थात् श्रीकृष्ण; क्योंकि महर्षि नारद श्रीकृष्ण को सम्बोधित करके ही ये सारी बातें कह रहे हैं ।

( २ ) दाशरथिः भवन्—दशरथ के पुत्र राम होते हुए । दाशरथि—'दशरथस्य अपत्यं पुमान्' इस अर्थ में दशरथ + इञ् । भवन्— √भू + शतृ ।

( ३ ) वनान्ताद्—वन के मध्य से। रावण ने दण्डकवन के बीच में से सीता का हरण किया था।

( ४ ) वनितापहारिणम् - पत्नी ( सीता ) का हरण करनेवाले। वनिता + अपहारिणम्। अप + √हृ + णिनि। ( कर्तरि ) = अपहारिन्, द्वि० ए० व०।

( ५ ) अमुम्—इस रावण को।

( ६ ) आबद्धचलज्जलाविलम् सेतु बाँधे जाने के कारण चंचल जल से कलुषित। 'पयोधिम्' का विशेषण है। आबद्ध + चलत् + जल + आविलम्। आ + √बन्ध् + क्त ( कर्मणि ) = आबद्ध।

( ७ ) पयोधिम्—समुद्र को। पयांसि धीयन्ते अस्मिन् इति पयस् + √धा + कि ( अधिकरणे ) = पयोधिः; द्वि० ए० व०। 'विलङ्घ्न' क्रिया का कर्म है।

( ८ ) विलङ्घ्य—पार करके। वि + √लङ्घ् + ल्यप्।

( ९ ) लङ्कां निकषा—लङ्का नगरी के समीप। 'निकषा' के योग में 'अभितः परितः' इत्यादि से द्वितीया हुई है। 'निकषा' सामीप्यार्थक एक अव्यय है।

( १० ) हनिष्यति—मारा था। 'यहाँ 'अभिज्ञावचने लृट्' से स्मरण विषय रहने के कारण भूतार्थ में 'लृट्' हुआ है।

( ११ ) अदः स्मरति—क्या ( आप ) यह स्मरण कर रहे हैं? यह यहाँ 'काकु' है। भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।'

व्याकरण—वनितापहारिणम्—वनिताम् अपहरति इति तम् ( तत्पु० )। आबद्धचलज्जलाविलम्—आबद्धः अत एव चलन्ति जलानि यस्य सः तम् ( बहु० )।

कोश—'समया निकषा शब्दौ सामीप्ये त्वव्यये मतौ' इति हलायुधः। 'वनिता महिला तथा', 'सलिलं कमलं जलम्'—इति च अमरः।

रावण का शिशुपाल होना नट की उपमा से वर्णन करते हैं—

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरा-
मवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम् ।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया
प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः परैः ॥६९॥

अन्वय—अथ, सम्प्रति, छलनापरः, एषः, शैलूषः, भूमिकां, इव, अपरां, उपपत्तिं, अवाप्य, शिशुपालसंज्ञया, तिरोहितात्मा, सोऽपि, परैः, असः, प्रतीयते ॥६९॥

अनुवाद—रावण नामक राक्षस का देह त्यागने के बाद इस समय लोगों को छलने में तत्पर यह रूपान्तर को धारण करनेवाले नट के समान दूसरे रूप (जन्म) को धारण करके 'शिशुपाल' नाम से छिपाये हुए स्वरूपवाला होता हुआ वह ही यह लोगों द्वारा अन्य समझा जा रहा है ॥६९॥

सर्वङ्कषा—अथेति ॥ अथ राक्षसदेहत्यागानन्तरं सम्प्रति छलनापरः परप्रतारणापरः एष रावणः शैलूषो नटः तस्य भूमिका रूपान्तरमिव । 'शैलूषो नटभिल्लयोः', 'भूमिकारचनायां स्यान्मूर्त्यन्तरपरिग्रहे' इति विश्वः । अपरामुखपत्तिम् । जन्मान्तरमित्यर्थः । अवाप्य शिशुपालसंज्ञया तिरोहितात्मा तिरोहितस्वरूपः सन् सोऽपि रावण एव सन्नपि परैरितरैः स न भवतीत्यसः तस्मादन्य एव । 'नञ्' इति नञ् समासः । अत एव 'एतत्तदोः सुलोपो०' इत्यादिना न सुलोपः । प्रतीयते ज्ञायते इति प्रति पूर्वादिणः कर्मणि लट् । यथैक एव शैलूषो रूपान्तरमास्थाय तद्देशभाषादिभिरन्य एव प्रतीयते तद्वदयमपि मानुपदेहपरिग्रहादन्य इव भाति । दौर्जन्यं तु तदेवेत्यवश्यं संहार्य इति भावः ॥६९॥

सारग्राहिणी—( १ ) अथ—रावण नामक राक्षस-देह को त्यागने के बाद ।

( २ ) सम्प्रति—इस समय । अव्यय है ।

( ३ ) छलनापरः—छल में तत्पर । छलनायां परः ( तत्पु० ) । छलना छल् + णिच् + युच् ( भावे ) ।

( ४ ) एषः—यह । पूर्व प्रक्रान्त होने से 'रावण' ।

( ५ ) अपरां भूमिकाम्—दूसरे रूप को ( धारण करनेवाले ) ।

( ६ ) शैलूषः इव—नट के समान । यहाँ शैलूष तथा रावण में चमत्कारि सादृश्य रहने से 'उपमा' अलंकार है ।

( ७ ) ( अपराम् ) उपपत्तिम्—दूसरे अर्थात् शिशुपाल नामक नरस्वरूप को अथवा जन्म को । उपपत्ति—उप + √ पद + क्तिन् ( भावे ) ।

( ८ ) अवाप्य—पाकर । अव + आप् + ल्यप् ।

( ९ ) शिशुपालसंज्ञया—'शिशुपाल' इस प्रकार के नाम से । यहाँ 'करण' अर्थ में तृतीया हुई है । संज्ञा—सम् + ज्ञा + अङ् ( भावे ) ।

( १० ) तिरोहितात्मा—छिपाये हुए स्वरूपवाला । तिरोहितः आत्मा यस्य सः ( बहु० ) । तिरोहित—तिरस् + √धा + क्त ( कर्मणि ) ।

( ११ ) सन्—होता हुआ । वर्तमानार्थक शब्द हैं । पु० प्र० ए० व० ।

( १२ ) सोऽपि—वह रावण ही होने पर भी ।

( १३ ) परैः—सामान्य लोगों द्वारा ।

( १४ ) असः—उस ( रावण ) से अन्य । न सः असः ( नञ् ) ।

( १५ ) प्रतीयते—समझा जा रहा है । प्रति + √इ + लट् ( कर्मणि ) प्र० पु० ए० व० ।

कोश—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ', 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा'—इति च अमरः ।

अथ शिशुपाल के स्वरूप एवं पराक्रम का वर्णन करते हैं—

अथैतद्दौर्जन्यं त्रिभिराविष्करोति— आक्षेपम् ।

स बाल आसीद् वपुषा चतुर्भुजो
मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः ।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकै-
रसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः ॥७०॥

अन्वय—सः, बालः, वपुषा, चतुर्भुजः ( आसीत् ), मुखेन, पूर्णेन्दुनिभः, त्रिलोचनः, आसीत्, सम्प्रति, युवा, कराक्रान्तमहीभृत्, उच्चकैः, तेजसा, रविः, असंशयम् ॥ ७० ॥

अनुवाद—वह शिशुपाल शिशु दशा में शरीर से चतुर्भुज, मुख से पूर्ण चन्द्रमा के समान तथा तीन नेत्रोंवाला था। इस समय युवा होता हुआ कर ( राजदेय द्रव्य ) से राजाओं को वश में करनेवाला वह किरणों से पर्वतों को आक्रान्त करनेवाला मानो सूर्य है ॥ ७० ॥

सर्वङ्कषा – स बाल इति ॥ स शिशुपालो बालः सन् वपुषा चतुर्भुजो भुजचतुष्टयवानासीत्। विष्णुरिति ध्वनिः। मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्तत्तुल्यः त्रिलोचनो लोचनत्रयवानासीत्। त्र्यम्बक इति ध्वनिः। बालविशेषणात् सम्प्रति तत्सर्वमन्तर्हितमिति भावः। सम्प्रति तु युवा सन् करेण बलिना आक्रान्तमहीभृदधिष्ठितराजकः सन् अन्यत्रांशुव्याप्तशैलः। 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः। उच्चकैस्तेजसा रविरसंशयम्। संशयो नास्तीत्यर्थः। अर्थाभावेऽव्ययीभावः। वपुषा मुखेन चेति 'येनाङ्गविकारः' इति तृतीया, हानिवदाधिक्यस्यापि विकारत्वात्। तथा च वामन—'हानिवदाधिक्यमप्यङ्गविकारः' इति। तेजसेति 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तृतीया। कराक्रान्तेत्यादिना श्लेषानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा। रविरसंशयमिति तस्य पूर्णेन्दुनिभ इत्युपमया संसृष्टिः। हरिहरादितुल्यमहिमत्वादतिदुर्धर्षः स इति भावः ॥ ७० ॥

सारग्राहिणी—( १ ) सः—वह शिशुपाल। पूर्व-जन्मीय रावण रूप तथा इस समय लोगों को त्रास देनेवाले शिशुपाल के लिए यह 'तत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

( २ ) बालः सन्—बालक होता हुआ।

( ३ ) वपुषा चतुर्भुजः—शरीर से चतुर्भुज था। यहाँ तथा 'मुखेन' में 'येनाङ्गविकारः' से तृतीया हुई है। न्यूनता के समान आधिक्य भी दोष की कोटि में रक्खा जाता है। चतुर्भुजः—चत्वारो भुजाः यस्य सः ( बहु० )। यहाँ 'विष्णु रूप' अर्थ की ध्वनि हैं।

( ४ ) मुखेन पूर्णेन्दुनिभः—मुख से पूर्णचन्द्रमा के समान। पूर्णश्चासौ इन्दुश्च इति पूर्णेन्दुः, पूर्णेन्दुना निभः पूर्णेन्दुनिभः ( तत्पु० )।

( ५ ) त्रिलोचनः- तीन नेत्रोंवाला। त्रीणि लोचननानि यस्य सः (बहु०), यहाँ 'शिव रूप' अर्थ की ध्वनि है।

( ६ ) आसीत्—था; अर्थात् वह शिशुपाल अब तारुण्य में उसके उक्त स्वरूप की समाप्ति द्योतित होती है। √अस् + लङ्, प्र० पु० ए० व०।

( ७ ) सम्प्रति—इस समय; अर्थात् तारुण्य में।

( ८ ) युवा सन्—तरुण होता हुआ।

( ९ ) कराक्रान्तमहीभृत्—कर ( राजदेय द्रव्य ) से अन्य राजाओं को वश में करनेवाला। पक्षान्तर में—किरणों से पर्वतों को आक्रान्त करनेवाला, कर + आक्रान्त + महीभृत्। यहाँ 'कर' तथा 'महीभृत्' शब्द श्लिष्ट हैं। आक्रान्त—आ + √क्रम् + क्त ( कर्मणि )।

( १० ) उच्चकैःतेजसा—अति महान् तेज से। 'उच्चकैः' अव्यय है। यह 'तेजसा' का विशेषण है।

( ११ ) असंशयम्—निःसन्देह रूप से। 'क्रिया-विशेषण' है। सम् + √शी + अच् ( भावे ) = संशय; असंशयम् = 'संशयस्य अभावः' अथवा 'अविद्यमानः संशयः यस्मिन्', अव्ययी०, बहु०।

( १२ ) रविः अस्ति—सूर्य है।

कोश—'गात्रं वपुः संहननम्', 'आननं लपनं मुखम्', निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः'—इति च अमरः।

अलङ्कार—यहाँ कराक्रान्तमहीभृत् में श्लेषानुप्राणित गम्योत्प्रेक्षा है; तथा 'पूर्णेन्दुनिभः' में 'उपमा' है; दोनों परस्पर निरपेक्ष रूप से अवस्थित हैं; अतः, 'संसृष्टि' है।

सुरासुरों के निग्रहानुग्रह का भी सामर्थ्य शिशुपाल में बतलाते हैं—

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसा
मनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया।
दशाननादीनभिराद्धदेवता
वितीर्णवीर्यातिशयान् हसत्यसौ ॥ ७१ ॥

अन्वय—यदृच्छया, सुरदैत्यरक्षसां, अनुग्रहावग्रहयोः स्वयं, विधाता, असौ, अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्, दशाननादीन्, हसति ॥ ७१ ॥

अनुवाद—अपनी इच्छा से ही स्वयं देव, दानव तथा राक्षसों पर अनुग्रह तथा निग्रह को करनेवाला वह आराधना किये हुए देवता द्वारा प्रदत्त अतिपराक्रमवाले रावण आदि का उपहास करता है ॥ ७१ ॥

सर्वङ्कषा – स्वयमिति ॥ यदृच्छया स्वेच्छया स्वयं सामर्थ्येन । न तु देवताप्रसादबलादिति भावः । सुरदैत्यरक्षसां देवदानवयातुधानानामनुग्रहावग्रहयोः प्रसादनिग्रहयोर्विधाता कर्ता असौ शिशुपालः अभिराद्धाभिराराधिताभिर्देवताभिरीश्वरादिभिर्वितीर्णो दत्तो वीर्यातिशयः प्रभावातिशयो येषां तान् दशाननादीन् हसति । अनन्यप्रसादलब्धैश्वर्ये मयि कथं याचकैस्तुल्यतेति गर्वाद्धसतीत्यर्थः ॥७१॥

सारग्राहिणी—( १ ) यदृच्छया – अपनी इच्छा से ।

( २ ) स्वयम् – स्वतः । किसी दूसरे के कहने से नहीं । 'अव्यय' है ।

( ३ ) सुरदैत्यरक्षसाम्—देव, दैत्य तथा राक्षसों के । दैत्य-दिति के पुत्र । रक्षस्, राक्षस—ब्रह्मदेव के द्वारा सृष्टि में उत्पन्न आचारशून्य जातिविशेष ।

( ४ ) अनुग्रहावग्रहयोः—कृपा और दण्ड का । अनुग्रह—अनु + √ग्रह् + अप् ( भावे ) । ष० द्वि० व० ।

( ५ ) विधाता—विधान करनेवाला । 'विदधाति' इस अर्थ में वि + √धा + तृच् ( कर्तरि ) ।

( ६ ) असौ—वह शिशुपाल ।

( ७ ) अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्—आराधना किये हुए देवता द्वारा प्रदत्त अतिपराक्रम ( बल ) वाले । 'दशाननादीन्' का विशेपण है । अभिराद्ध + देवता + वितीर्ण + वीर्य + अतिशयान् । अभिराद्ध—अभि + √राध् + क्त (कर्मणि) । देवता – देव शब्द से स्वअर्थ में तल् ( स्त्रीलिंग में ) । अतिशय—अति + √शी + अच् ( भावे ) ।

( ८ ) दशाननादीन् हसति—रावण आदि का उपहास करता है । 'दशाननादीन्' 'हसन' क्रिया का कर्म है ।

व्याकरण—सुरदैत्यरक्षसाम् –सुराश्च दैत्यश्च रक्षांसि च तेषाम् ( द्वन्द्व )। अनुग्रहावग्रहयोः—अनुग्रहश्च अवग्रहश्च तयोः ( द्वन्द्व )। अभिराद्ध-देवतावितीर्णवीर्यातिशयान्—अभिराद्धाभिः देवताभिः वितीर्णः वीर्यस्य अतिशयः येभ्यः तान्। ( बहु० )

कोश—'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः', 'असुरा दैत्यदैतेय-दनुजेन्द्रारिदानवाः', नैर्ऋतो यातुरक्षसी' – इति च अमरः।

शिशुपाल द्वारा जगत् के उत्पीड़न का वर्णन करते हैं—

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्
प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
सतीव योषित् प्रकृतिः सुनिश्चला
पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥ ७२ ॥

अन्वय—जिगीषुणा, तेन, बलावलेपात्, अधुना, अपि, पूर्ववत्, जगत्, प्रबाध्यते, सती, योषित्, इव, सुनिश्चला, प्रकृतिः, भवान्तरेषु, अपि, पुमांसं, अभ्येति ॥ ७२ ॥

अनुवाद—जीतने की इच्छावाले उसके द्वारा बलजन्य गर्व से इस समय भी पहले के समान जगत् पीड़ित हो रहा है, क्योंकि पतिव्रता स्त्री के समान अतिस्थिर प्रकृति दूसरे जन्मों में भी स्वपुरुष को प्राप्त करती है ॥ ७२ ॥

सर्वङ्कषा—बलेति ॥ जिगीषुणा नित्योत्साहवतेत्यर्थः। तेन शिशुपालेन बलावलेपाद् बलगर्वादधुनापि पूर्ववत् पूर्वजन्मनीव जगत् प्रबाध्यते। तथाहि—सती पतिव्रता योषिदिव सुनिश्चलाऽतिस्थिरा प्रकृतिः स्वभावो भवान्तरेषु जन्मान्तरेष्वपि पुमांसमभ्येति।

'पतिं या नाभिचरति मनोवाक्कायसंयता। सा भर्तुर्लोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥' इति मनुः। उपमानोपमेयपुरस्कृतोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ७२ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) जिगीषुणा तेन—जीतने की इच्छा करनेवाले उसके द्वारा। 'जेतुमिच्छुः' इस अर्थ में √जि + सन् + ड ( कर्तरि ) = जिगीष ( सन्नन्त धातु ) + उः + जिगीषुः, तेन। तृ० ए० व०

( २ ) बलावलेपात्—बलजन्य गर्व से। अवलेप—अव+लिप्+घञ् ( भावे )। बलात् अवलेपः = बलावलेपः, तस्मात् ( तत्पु० )

( ३ ) अधुना अपि—इस समय भी।

( ४ ) पूर्ववत्—पहले दो जन्मों में स्थित के समान। अर्थात् पहले के समान। 'यथा पूर्वयोः तथा' इस अर्थ में पूर्व+वति ( तुल्यार्थ में।

( ५ ) जगत्—संसार। 'प्रबाधन' क्रिया का कर्म है।

( ६ ) प्रबाध्यते--पीड़ित किया जा रहा है। प्र+बाध्+लट् ( कर्मणि-आत्मनेपद ), प्र० पु० ए० व०।

( ७ ) सती योषित् इव—क्योंकि पतिव्रता स्त्री के समान। यहाँ उपमा अलंकार से पुरस्कृत 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है, क्योंकि सामान्य से विशेष का समर्थन गम्य हो रहा है।

( ८ ) सुनिश्चला प्रकृतिः—अतिस्थिर स्वभाव। सुनिश्चला--चलतीति चला, निर्गता चलाभ्यः इति निश्चला। अतिशयेन निश्चला = सुनिश्चला।

( ९ ) भवान्तरेषु अपि—अन्य जन्मों में भी। अन्ये भवाः भवान्तराणि तेषु ( मयूरव्यंसकादि तत्पु० )। 'अपि' अव्यय है।

( १० ) पुमांसम्—स्वपुरुष को। सती स्त्री के पक्ष में स्वपति को। प्रकृत में—स्वभाव जिसका है उस पुरुष को।

( ११ ) अभ्येति—प्राप्त करती है। अभि+इ+लट्, प्र० पु० ए० व०।

कोश—'अधुना साम्प्रतं तथा', 'विष्टपं भुवनं जगत्', स्त्रीयोषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः', 'मनुजा मानवा नराः स्युः पुमांसः'—इति च अमरः।

शिशुपाल का वध करना आपका कर्तव्य है; अतः आप उसका वध करें, यह कहते हैं—

तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधे
विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम्।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो



निपादनीया हि सतामसाधवः॥ ७३॥

अन्वयः—तत्, विधेः, उल्लङ्घितशासनं एनं, कीनाशनिकेतनातिथिं विधेहि, हि, शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः, असाधवः, सतां, विपादनीयाः ॥ ७३ ॥

अनुवाद अतः ब्रह्मा की भी आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले इस ( शिशुपाल ) को यम के भवन का अतिथि बनाइये अर्थात् नष्ट कीजिये, क्योंकि दुराचार के कारण परिपक्व आपत्तिवाले दुष्टजन सज्जनों द्वारा मारे जाने योग्य होते हैं ॥ ७३ ॥

सर्वङ्कषा—तदेनमिति ॥ तत् तस्माद् विधेर्विधातुरप्युल्लङ्घितशासनम् । स्वयं विधातेत्याद्युक्तरीत्यातिक्रान्तदैवशासनमित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । एनं शिशुपालं कीनाशनिकेतनातिथिं कीनाशो यमस्तस्य निकेतनं गृहं तत्रातिथिं प्राघुणिकं विधेहि कुरु । यमगृहं प्रेषयेत्यर्थः । 'कीनाशः कर्षके क्षुद्रे कृतांतोपांशुघातिनोः' इति विश्वः । न चैतत्प्राघुणिकहस्तेन सर्पमारणं, भवादृशामवश्यकर्त्तव्यत्वादित्याह—शुभेतराचारेण दुराचारेण विपक्त्रिमाः परिपाकेन निर्वृत्ताः कालपरिपाकेन प्राप्ता आपदो येषां ते तथोक्ताः । ड्वितः क्त्रिः' इति पचेः क्त्रिप्रत्ययः । 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति तद्धितो मप्प्रत्ययः । असाधवो दुष्टाः सतां भवादृशां जगन्नियन्तॄणां निपातनीयाः ( विपादनीयाः ) वध्या हि । न च नैर्घृण्यदोषः । स्वदोषेणैव तेषां विनाशे निमित्तमात्रत्वादस्माकमित्याशयेन शुभेतराचारेत्यादिविशेषणोक्तिः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ७३ ॥

सारग्राहिणी—( १ ) तत्—अतः, इस कारण ।

( २ ) विधेः उल्लङ्घितशासनम्—विधाता की भी आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले । उल्लंघित + शासनम् । उल्लंघित—उद् + √लंघ् + क्त (कर्मणि) । शासनम्—√शास + ल्युट् ( करणे ) ।

( ३ ) एनम् - इस ( शिशुपाल ) को ।

( ४ ) कीनाशनिकेतनातिथिम् विधेहि—यम के भवन का अतिथि बनाइये; अर्थात् उसे मारिये । कीनाश + निकेतन + अतिथिम् । निकेतन—√नि + कित् + ल्युट् । ( अधिकरणे ) विधेहि—वि + √धा + लोट्, म० पु० ए० व० ।



( ५ ) हि—क्योंकि । कारणवाचक अव्यय है ।

( ६ ) शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः--अशुभ आचरण से परिपक्व आपत्ति-वाले। 'असाधवः' का विशेषण है। शुभ+इतर्+आचार+विपक्त्रिम+आपदः। शुभ--'शोभते' इस अर्थ में √शुभ्+क (कर्तरि)। आचार—आ+√चर्+घञ् (भावे)। विपक्त्रिम्--वि+पच्+क्त्रि+मम्। आपदः--आ+पद्+क्विप्, प्र० ब० व०।

( ७ ) असाधवः—दुष्ट जन। न साधवः असाधवः ( नञ् )।

( ८ ) सताम्--सज्जनों द्वारा। अस्+शतृ (कर्तरि)=सत्, ष०ब०व०। यहाँ 'कृत्यानां कर्तरि वा' से षष्ठी हुई है। इसका अर्थ तृतीया है।

( ९ ) विपादनीयाः भवन्ति--मारे जाने योग्य होते हैं। वि+√पद्+णिच्+अनीयर्। 'निपातनीयनाः' पाठ मल्लिनाथ ने माना है; उसके अनुसार नि।-+पत्+णिच्+अनीयर्।

**व्याकरण**—उल्लंघितशासनम्--उल्लंघितं शासनं येन सः तम् ( बहु० )। कीनाशनिकेतनातिथिम्—कीनाशस्य निकेतनम् कीनाशनिकेतनम्; तस्य तस्मिन् वा अतिथिः तम् ( तत्पु० )। शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः—शुभात् इतरः शुभेतरः; शुभेतरश्चासौ आचारश्च तेन विपक्त्रिमाः आपदः येषां ते ( बहु० )।

**कोश**—'कृतान्ते पुंसि कीनाशः क्षुद्रकर्षकयोस्त्रिषु', 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्', 'विपत्त्यां विपदापदौ'—इत च अमरः।

**अलङ्कार**--यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है; सामान्य से विशेष का समर्थन हुआ है।

अब नारदमुनि शिशुपाल-वध से इन्द्र को आनन्दित करने की प्रार्थना श्रीकृष्ण से करते हैं—

किञ्चैवं दुष्टनिग्रहे शिष्टानुग्रहः स्यादित्याह—

हृदयमरिवधोदयादुदूढ-
द्रढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य।
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्र-
द्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥ ७४ ॥

**अन्वय**—अरिवधोदयात्, उदूढद्रढिम, पुरन्दरस्य, हृदयं, पुनः, घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वं, दधातु ॥ ७४ ॥

अनुवाद--शत्रु (शिशुपाल) का वध सम्पन्न होने से दृढ़ता को धारण किया हुआ इन्द्र का हृदय पुनः इन्द्राणी के अतिरोमाञ्चपूर्ण स्तनाग्रों के शीघ्र और गाढ़ आलिंगन से जन्य पीड़ा को सहन करने की योग्यता को धारण करे ।।७४।।

सर्वङ्कषा—हृदयमिति ।। अरिवधोदयाद् रिपुनाशलाभात् उदूढद्रढिम नैश्चिन्त्यात् धृतदार्ढ्यम् । स्वस्थमिति यावत् । पृथ्व्यादित्वात् दृढशब्दादिमनिच् प्रत्ययः । 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य रेफादेशः । पुरः शत्रुपुराणि दारयतीति पुरन्दर इन्द्रः । 'पूः सर्वयोर्दारिसहोः' इति खच् प्रत्ययः । 'खचि ह्रस्व' इत्युपधाह्रस्वः । वायं यमपुरन्दरौ च' इति निपातनाददन्तत्वं मुमागमश्च । तस्य हृदयं पुनर्भूयोऽपि । पूर्ववदेवेति भावः । घनपुलकयोः सान्द्ररोमाञ्चयोः, पुलोम्नो जाता पुलोमजा शची तस्याः कुचाग्रयोर्द्रुतपरिरम्भ औत्सुक्याच्छीघ्रालिङ्गनं तत्र यत्पीडनं तस्य क्षमत्वं सहत्वं दधातु । प्राक्चित्तविक्षेपात् त्यक्तभोगेन शक्रेण सम्प्रति त्वत्प्रसादान्निष्कण्टकं स्वकीयं राज्यं भुज्यतामित्यर्थः । अत्र दार्ढ्यपदार्थस्योदूढद्रढिमेति विशेषणगत्या निपीडनक्षमत्वं प्रति हेतुत्वोक्त्या पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । हृदयनिपीडनक्षमत्वसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्त्या सम्बन्धेऽसम्बन्धरूपातिशयोक्तिरित्यर्थालङ्कारो वृत्त्यनुप्रासश्च तैरन्योन्यं संसृज्यते । पुष्पिताग्रा वृत्तम् । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ।। ७४ ।।

सारग्राहिणी—(१) अरिवधोदयात्—शत्रु-वध सम्पन्न होने से । अरि + वध + उदयात् ।

(२) उदूढद्रढिम्—दृढ़ता को धारण किया हुआ । उत् + √वह् + क्त = उदूढ । द्रढिम—दृढ + इमनिच् = द्रढिमन्, नपुं० प्र० ए० व० । 'हृदयम्' का विशेषण है ।

(३) पुरन्दरस्य—इन्द्र का । पुरं दारयतीति पुरन्दरः, तस्य । ष०ए०व० । पुर + दृ + खक् ।

(४) हृदयम्—वक्षःस्थल ।

(५) पुनः—फिर से । अव्यय है ।

(६) घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम्—अति रोमाञ्चयुक्त इन्द्राणी के स्तनाग्र के शीघ्र आलिंगन से होनेवाली पीड़ा को सहन न करने

की योग्यता को। घन + पुलक + पुलोमजा + कुच + अग्र + द्रुत + परिरम्भ + निपीडन + क्षमत्वम्।

( ७ ) दधातु – धारण करे। धा + लोट् प्र० पु० ए० व०।

**व्याकरण**—अरिवधोदयात् – अरेः वधः अरिवधः स एव उदयः तस्मात् ( तत्पु० )। उदूढद्रढिम—उदूढः द्रढिमा येन तत् ( बहु० )। घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम्—घनः पुलकः ययोस्तौ घनपुलकौ, तयोः पुलोमजायाः कुचाग्रयोः यः द्रुतः परिरम्भः तत्र यत् पीडनं तस्य क्षमत्वम् ( बहु गर्भित तत्पु० )।

**कोश**—'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद् द्वेषणदुर्हृदः', वृद्धश्रवाः शुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः', चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः', 'चूचुकं तु कुचाग्रं स्यात्—इति च अमरः।

**अलंकार**—यहाँ हृदय के·······परिरम्भनिपीडनक्षमत्वरूप सम्बन्ध में असम्बन्ध का कथन होने से यहाँ अतिशयोक्ति है; तथा 'उदूढद्रढिम', 'निपीडनक्षमत्व' में हेतु है; अतः, यहाँ काव्यलिंग भी है।

अब कवि सन्देश देकर नारदमुनि के प्रस्थान करने पर श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल के प्रति किये गये क्रोध का वर्णन करता है—

**ओमित्युक्तवतोऽथशार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभ-**
**स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरःसुरमुनाविन्दोः श्रियं बिभ्रति।**
**शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य चैद्यं प्रति**
**व्योम्नीव भ्रुकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम् ॥७५॥**

**अन्वय**—तस्मिन्, सुरमुनौ, इति, वाचं, व्याहृत्य, नभः, उत्पतिते, पुरः, इन्दोः, श्रियं, बिभ्रति ( सति ), अथ, ओम्, इत्युक्तवतः, चैद्यं, प्रति, क्रुद्धस्य, शार्ङ्गिणः, वदने, व्योम्नि, इव, अनिशं, शत्रूणां, विनाशपिशुनः, केतुः, भ्रुकुटिच्छलेन, आस्पदं, चकार ॥ ७५ ॥

**अनुवाद**—उन महर्षि नारद के इस प्रकार ( इन्द्र का सन्देश ) वचन कहकर आकाश में प्रस्थित होने पर तथा सामने चन्द्रमा की शोभा को धारण करने पर—आपका वचन मुझे स्वीकार है, ऐसा कहनेवाले तथा शिशुपाल के

प्रति क्रुद्ध हुए श्रीकृष्ण के आकाश के समान मुख पर, सदैव शत्रु-विनाश के सूचक केतु ने ( उत्पात-विशेष ने ) भ्रुकुटि के बहाने से स्थान ग्रहण किया ॥ ७५ ॥

सर्वङ्कषा—ओमिति ॥ तस्मिन् सुरमुनौ नारदे इति इत्थंभूतां वाचं व्याहृत्योक्त्वा नभ उत्पतिते समुद्गते पुरोऽग्रे इन्दोः श्रियं बिभ्रति सति । अथ मुनिवाक्यानन्तरमोमित्युक्तवतस्तथास्त्वित्यङ्गीकृतवतः । 'ओम्प्रश्नेऽङ्गीकृतौ शेषे' इति विश्वः । चेदीनां जनपदानामयं चैद्यः शिशुपालः । 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ् यङ्' इति ञ्यङ् प्रत्ययः । प्रति क्रुद्धस्य शार्ङ्गिणो वदने व्योम्नीवानिशं सर्वदा । अव्यभिचारेणेत्यर्थः । शत्रूणां विनाशस्य पिशुनः सूचकः । 'चन्द्रमभ्युत्थितः केतुः क्षितीशानां विनाशकृत्' इति शास्त्रादिति भावः । केतुरुत्पातविशेषः । 'केतुर्द्युतौ पताकायां ग्रहोत्पातारि लक्ष्मसु' इत्यमरः । भृकुटिच्छलेन भ्रूभङ्ग-व्याजेनास्पदं प्रतिष्ठां स्थितिं चकार । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातनात्सुडा-गमः । अनेन वाक्यार्थभूतस्य वीररससहकारिणो रौद्रस्य स्थायी क्रोधः स्वानुभावेन भ्रुकुट्या कारणभूतोऽनुमेय इत्युक्तम् । तथा तदविनाभूतस्य स्थायी प्रयत्नोपनेय उत्साहोऽप्युत्पन्न एवेत्यनुसन्धेयम् । इन्दोः श्रियं बिभ्रतीत्यत्र मुनेरिन्दुश्रियोऽयोगात् तत्सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनालङ्कारः । वदने व्योम्नोवेत्युपमा । भ्रुकुटिच्छलेन केतुरिति छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नवः । तत्र शत्रु-विनाशसूचके त्वपेक्षितेन्दुसान्निध्यव्योमावस्थानसम्पादकत्वे निदर्शनोपमयोर-पह्नवोपकारसत्वादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । चमत्कारकारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु श्रीशब्दप्रयोगः । यथाह भगवान् भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' इति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्—'सूर्या-श्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणात् । सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः । यथाह—दण्डी—'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः । सर्वत्र भिन्नसर्गान्तै-रुपेतं लोकरञ्जकम् ॥' इति ।

अथ कविः कविकाव्यवर्णनीयाख्यानपूर्वकसर्गसमाप्तिं कथयति—इतीति । इतिशब्दः समाप्तौ । माघकृताविति कविनामकथनम् । महाका[illegible] महच्छब्देन

लक्षणसम्पत्तिः सूचिता । शिशुपालवध इति काव्यनामकथनम् । प्रथमः सर्गः इति समाप्त इति शेषः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥७५॥

इति श्रीमहोपाध्याय कोलाचलमल्लिनाथसूरि-
विरचिते शिशुपालवधकाव्यव्याख्याने
सर्वङ्कषाख्ये प्रथमः सर्गः ॥१॥

(१) सारग्राहिणी—(१) तस्मिन् सुरमुनौ—उन महर्षि नारद के।

(२) इति वाचं व्याहृत्य—इस प्रकार का (पूर्वोक्त) वचन कहकर। व्याहृत्य—वि+आ+ √हृ+ल्यप्।

(३) नभः उत्पतिते—आकाश में प्रतिस्थित होने पर। उत्पतिते—उद+ √पत्+क्त (कर्तरि)।

(४) पुरः—आगे की ओर। 'अव्यय' है।

(५) इन्दोः श्रियं बिभ्रति सति—चन्द्रमा की शोभा को धारण करते रहने पर। बिभ्रति+√भृ+शतृ, (कर्तरि)=बिभ्रत्, स० ए० व० (सति सप्तमी)।

(६) अथ—इसके बाद। 'अव्यय' है।

(७) ओम् इति उक्तवतः—'स्वीकार है' ऐसा कहे हुए। 'शार्ङ्गिणः' का विशेषण है। उक्तवतः—√वच्+क्तवतु (कर्तरि), ष० ए० व०। 'ओम्' स्वीकारोक्तिसूचक 'अव्यय' है।

(८) चैद्यं प्रति क्रुद्धस्य—शिशुपाल के प्रति क्रुद्ध हुए 'शार्ङ्गिणः' का विशेषण है। 'चेदि' एक तात्कालिक राज्य था; वहाँ का शासक होने से शिशुपाल को 'चैद्य' कहा गया है। 'चैद्यं प्रति' यहाँ 'प्रति' के योग में द्वितीया हुई है। क्रुद्धस्य—√क्रुध्+क्त=क्रुद्ध, ष० ए० व०।

(९) शार्ङ्गिणः—श्रीकृष्ण के। 'शार्ङ्ग' नामक धनुष् श्रीकृष्ण के (विष्णु के) हाथ में होने से उन्हें 'शार्ङ्गिन्' कहा जाता है। शार्ङ्+इति=शार्ङ्गिन्, ष० ए० व०।

(१०) व्योम्नि इव वदने—आकाश के समान मुख पर। यहाँ 'उपमा' अलंकार है; कुछ टीकाकार यहाँ 'उत्प्रेक्षा' मानते हैं। S. R. Ray लिखते हैं—'वदने' is an उत्प्रेक्षा।

( ११ ) अनिशम्—सतत, हमेशा।
( १२ ) शत्रूणाम्—शत्रुओं के।
( १३ ) विनाशपिशुनः—विनाश के सूचक।
( १४ ) केतुः—उत्पातविशेष ने।
( १५ ) भ्रुकुटिच्छलेन—भ्रुकुटि के बहाने से।
( १६ ) आस्पदं चकार—स्थान ग्रहण किया। 'आसमन्तात् पद्यते अ इस अर्थ में आ + √पद् + घञ् ( अधिकरणे )। चकार—√कृ + लिट्, पु० ए० व०।

व्याकरण—सुरमुनौ—सुराणां मुनिः = सुरमुनिः तस्मिन् ( तत्पु० विनाशपिशुनः—विनाशस्य पिशुनः = विनाशपिशुनः ( तत्पु० )।

कोश—'गीर्वाग् वाणी सरस्वती', 'नभोऽन्तरिक्षं गगनम्', इन्दुः बान्धवः', 'चापः शार्ङ्गं मुरारेस्तु'—इति च अमरः।

अलङ्कार—'व्योम्नि इव वदने' में 'उपमा' अलंकार है। कुछ टीक यहाँ 'उत्प्रेक्षा' मानते हैं। भ्रुकुटिच्छलेन केतुः' में अपह्नुति ( कैतवापह्नुति क्योंकि यहाँ छल शब्द के प्रयोग से भ्रुकुटित्व धर्म का अपह्नव करके केतुत आरोपित किया गया है।

कैतवापह्नुति का लक्षण है—"कैतवापह्नुतिर्व्यक्ते व्याजाद्यैर्निह्नवे (चन्द्रालोक)। 'इन्दोः श्रियं बिभ्रति' में 'निदर्शना' अलंकार है। यहाँ नार चन्द्रमा की शोभा को नहीं धारण कर सकते ( कथमन्यस्य शोभामन्यो वह अतः, चन्द्रमा की श्री के समान श्री को धारण करते रहने पर' ऐसा अर्थ जाता है।

इस प्रकार यहाँ इन अलंकारों में एकाश्रयानुप्रवेशी 'संकर' है।

यहाँ 'सारग्राहिणी' टीका से युक्त महाकवि माघकृत 'शिशुपालवधम्' महाकाव्य में 'श्रीकृष्ण-नारद-संवाद' नामक प्रथम सर्ग पूर्ण हुआ ॥ १ ॥